THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180917

UNIVERSAL
LIBRARY

शिप्रा

—गीतिकाव्य—

श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री

कापी राइट '५०
श्रीमती छाया देवी

१९४५ प्रथम संस्करण १०००
१९५० द्वितीय संस्करण १०००

राधा प्रिंटिंग वर्क्स, मुजफ्फरपुर में मुद्रित
तथा
श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री द्वारा प्रकाशित

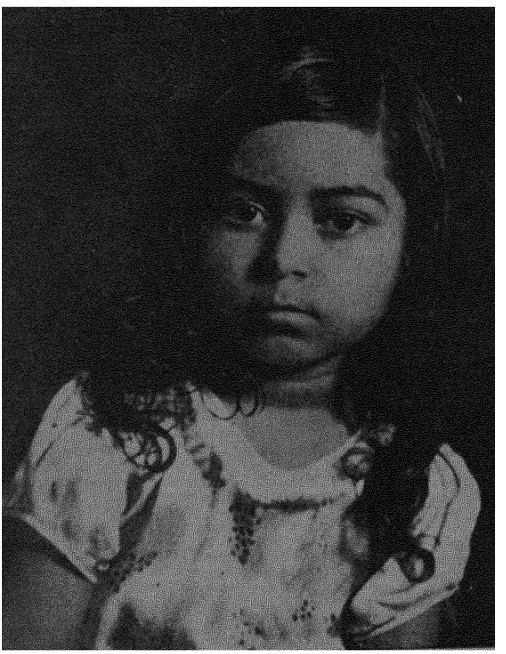

शैलबाला

शैल को

श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री :

जन्म १९१६ ; जन्मभूमि, मैगरा (गया)

प्रकाशित रचनाएँ :

संस्कृत :	काकली	(गीतिकाव्य)	१९३५
हिन्दी :	रूप-अरूप	(गीतिकाव्य)	१९४०
	कानन	(कहानियाँ)	१९४१
	अपर्णा	(कहानियाँ)	१९४२
	गाथा	(कथा-काव्य)	१९४४
	साहित्य-दर्शन	(निबन्ध-प्रबन्ध)	१९४४
	तीर-तरङ्ग	(गीतिकाव्य)	१९४५
	शिप्रा	(,, ,,)	१९४५

अप्रकाशित रचनाएँ :

संस्कृत :	बन्दी-मन्दिरम्	(खण्ड काव्य)	१९३७
	पूर्व्य-साहित्यम्	(प्रबन्ध)	१९३८
	लीला-पद्मम्	(मुक्तक)	१९४१
हिन्दी :	बाललता	(गीतिकाव्य)	१९३४
	राधा	(महाकाव्य)	१९४३
	वेणुवन	(कहानियाँ)	१९४७
	काव्य-कला	(निबन्ध-प्रबन्ध)	१९४६
	हंसकिङ्किणी	(गीति काव्य)	१९४७
	शिशिर-किरण	(,, ,,)	१९४८
	सुरसरि	(,,)	१९४९
	वैशाखी	(व्यङ्ग्य काव्य	१९५०
	अवन्तिका	(गीतिकाव्य)	'४०–४९
	मेघ गीत	(,, ,,)	'३५–५०
	किरण	(उपन्यास)	१९४२
	पाषाणी	(नाटक)	१९४९

सम्पादित :

महाकवि निराला	१९४८

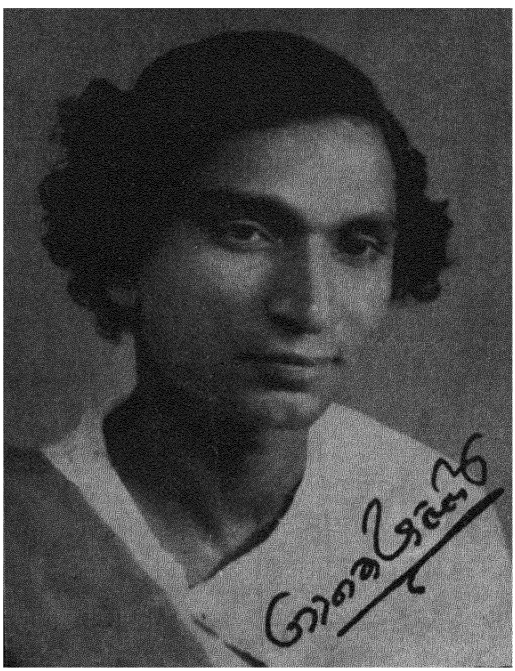

श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री

I am; yet what I am none cares to know,
My friends forsake me like a memory lost;
I am the self - consumer of my woes,
They rise and vanish in oblivious host.

मुख पर विषाद की घनी रेखा और चंचल आँखों में सब को भूल कर आगे बढ़ने की अभिमान-भरी साध; आनन के इर्द-गिर्द करीने से बिखरे हुए बाल और वस्त्र में लापरवाही; माथे में वेद-वेदान्त, ज्ञान-विज्ञान और दिल में सितार के 'तुनुक तार'- विषमताओं का एक बण्डल ! एकान्त का गायक और बिहार का सबसे विद्वान कवि।

'काकली' 'रूप-अरूप' 'तीर-तरंग' और 'शिप्रा' इस अद्भुत कवि के विकास-स्तम्भ हैं । 'काकली' उसका स्वर-संधान है, 'रूप-अरूप' उसकी मूर्च्छना है और 'तीर-तरंग' उसके 'वसन्ती-पतझड़' के करुण-मधुर गायन का सरूर-भरा सम। और 'शिप्रा' ? यह सबसे अलग है । यहाँ आगत की आरती उतारी गई है जिसकी स्फटिक-ज्योति में अनागत का स्वरूप भी बिम्बित हो उठा है। यहाँ कवि की आकाश-विहङ्गिनी मूर्त्त को अमूर्त्त से मिलाने, क्षणिक को शाश्वत करने भूमि पर उतर आयी है। जीवन के सान्निध्य के अतिरिक्त भाषा का प्रौढ़ घरेलूपन, बन्ध का संश्लेष तथा इंगित की स्पष्टता इस पुस्तक की निजी विशेषताएँ हैं।

गीत-परम्परा में इस कवि को क्या स्थान मिलेगा इसका निर्णय भविष्य करेगा; किन्तु इतना निश्चय है कि अद्वैत की प्रेरणा, ऋग्वेद से लेकर महादेवी वर्मा तक की शृङ्खलित धारा का अनुशीलन एवं मीरा, महादेवी और रवीन्द्र नाथ के प्रति विशिष्ट आग्रह रख कर भी यह सान्ध्यतारा की भाँति अपने डगर पर अकेला है।

इस कवि की वेदना न तो दुलार के आधिक्य की प्रतिक्रिया है और न इसके गीत स्वप्निल-तन्द्रिल सत्ताहीन छाया-चित्र हैं। जीवन के विनिमय में इसने जो 'गीली-ममता' पायी है, मनन-काल में अद्वैत से जो तादात्म्य अनुभव किया है और निसर्ग से जो कोकिलकंठ का वरदान पाया है उन्हीं के ये स्वाभाविक परिणाम हैं। निष्कपट आँसू से धुले हुए ये गीत सत्ता और छाया दोनों को समेट कर बैठे हैं। अभिजात अंश का यह परिहार आज के इस विडम्बक युग में सर्वथा अभूतपूर्व है। आश्चर्य होता है कि दार्शनिक सिद्धान्तों के विवेचन-विश्लेषण में उलझा रहने वाला यह व्यक्ति अनेकानेक कवियों की भाँति, गीत की लीक से उतर क्यों नहीं गया? बौद्धिक वातावरण की प्रवंचनाओं के बीच अपनी अनुभूति को अछूती कैसे रख पाया? और यदि तसवीर टूटी थी तो यह विश्वासपूर्ण भक्ति कैसी? इस कवि को न तो कभी 'फार्म' की ओर भागते देखा और न यही देखा कि कहीं इसने 'रुचि' से 'रूप' की उपेक्षा करायी हो। इस समाहारनिष्ठ कला को देख कर Jouffrey वाली लिरिक की व्यापक परिभाषा सार्थक लगने लगती है और Drink water के ये शब्द दुहराने पड़ते हैं—the characteristic of the lyric is that it is the product of the pure poetic energy.

कैसे कहूँ कि नवनीत-सी कोमल पंक्तियों में अध्यात्म का यह पुष्ट विधान अन्यत्र दुर्लभ है। यह कवि आज भी हमारे सामने समस्या बन कर खड़ा है और प्रायः चौंक पड़ता हूँ कि आचार्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्री ने

'कैसे इतनी कठिन रागिनी कोमल सुर से गाई !'

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
बी० एन० कॉलेज,
पटना।

—प्रो० केसरी कुमार,
एम० ए०

क्रम

	विषय	पृष्ठ
१	काव्यकला	५–१५
२	प्रेरणा	१६
३	बाँसुरी	१७–१८
४	चाँदनी	१९–२२
५	सुमित्रा की शेष स्मृति	२३–३१
६	झङ्कार	३२–३४
७	अश्वत्थ	३५–४०
८	पतझार	४१
९	कुन्द और उपगुप्त	४२–५६
१०	मेघ-गीत	५७–५८
११	निराला	५९–६६
१२	पार्वती के धाम्बाण	६७–६९
१३	ध्रुव-पद	७०–७१
१४	शकुन्तला	७२–७७
१५	चाणक्य	७८–८१
१६	अश्वत्थामा	८२–८३
१७	पद	८४
१८	उक्ति	८५
१९	राखी की साखी	८६
२०	बिखरे मोती·····	८७
२१	'सर्वेभवन्तु सुखिनः'	८८
२२	शनैः पन्थाः	८९

	२३	मिट्टी का मोह	९७
	२४	लक्ष्य-वेदना	९१
	२५	नव-शक्ति	९२
	२६	शेष आह्वान	९३
	२७	मौज	९४
*	२८	मस्ती	९५
*	२९	निर्देश	९६
	३१	कपोत-कपोती	९७–९९
	३२	जग और युग	१००–१०२
*	३३	तिमिर-पर्व	१०३–१०४
*	३४	चाँदनी	१०५–१०६
	३५	शिप्रा ✍	१०७–११५
*	३६	टिप्पणियाँ	११६–१२४

* ये रचनाएँ इसी संस्करण में प्रथम बार प्रकाशित हुई हैं ।

काव्य-कला

जीवन के आवेग का अतुल आग्रह रखकर भी मैं काव्य में कला-तत्त्व के समुचित समावेश का तीव्र पक्षपाती हूँ। मेरे अनुभव के अनुसार कलाहीन पंक्तियाँ तुकबंदियाँ हैं और तुकबंदियों में काव्योचित जीवन-ज्योति की पूरी-पूरी पहुँच सम्भव नहीं।

वस्तुतः कला की योजना जीवन का स्वर तीव्रतर करने के लिए ही हुई है। मानव-जीवन में ज्यों-ज्यों सौन्दर्यप्रियता घर करती गई, त्यों-त्यों कला की बारीकी भी निखरती गई है। जब कलाकार किसी का मादक रूप या किसी की प्रशान्त आकृति आँकता है तो वह अपनी ओर से उसके जीवन को ही स्फुट करता है, कुछ आड़ी-तिरछी रेखाएँ खींचना भर उसका उद्देश्य कदापि नहीं होता।

गीता में कृष्ण ने एक बात कही है कि उनसे पृथक्-अतिरिक्त यदि कहीं कुछ प्रतिभासित हो तो उसे मिथ्या मानने में हिचक की जरा भी जरूरत नहीं। सारी दुनिया उन्हीं की लपेट में है; क्योंकि सत्य केवल वही हैं, सृष्टि-स्थिति-संहार उन्हीं के खेल-तमाशे हैं। किन्तु दो पद्यों के द्वारा भी किया जा सकनेवाला यह ऐसा ज्ञानदान गीता के गुरुतर निर्माण के लिए बहुत ही हल्का पड़ता, फलतः कई-कई अध्यायों में यह खूब ही पल्लवित-पुष्पित किया गया है और वह विस्तार किसी भी प्रकार निष्फल-निःसार

नहीं है, क्योंकि वह मूल स्वर को तीव्र किंवा हृदयङ्गम कराने की ही कला है ।

विश्व-रूप-दर्शनवाले अध्याय में इस कला की चरम परिणति हुई है । जब अर्जुन कृष्ण के विश्वव्यापी रूप में नग-नगर, नदी-निर्झर, तृण-तरु एवं कोटि-कोटि प्राणियों को अन्तर्भूत देखते हैं; जिनके ऊपर शस्त्र उठाते उनकी हथेली ठंडी-ढीली पड़ जाती, उँगलियों की गाँठ-गाँठ में दर्द होने लगता है, वह सब भी जब कृष्ण के विकराल वदन में समाए, दाढ़-तले दबे दिखते हैं तो जैसे कला ने विशद आकार ग्रहण कर उन्हें इतना ही सत्य दिखलाया कि कृष्ण सारी दुनिया को अपनी बाँहों में बाँधे हुए हैं—"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् !"

इस प्रकार देखते हैं कि जीवन के विश्लिष्ट अणु-परमाणुओं को एकत्र कर दिव्य आकार में परिणत कर देनेवाला ही कलाकार है; दूसरे शब्दों में, छुटपन (सूक्ष्मता) के कारण पकड़ में न आनेवाले, आकर भी फिसल-फिसल जानेवाले प्राण-तत्त्वों को एक सुदृढ़ आधार प्रदान करनेवाला ही कलाकार है; स्थूल (आकृति) की शिराओं में जीवन (सूक्ष्म प्राण) का उष्ण रुधिर सञ्चारित करना ही सच्ची कलाकारिता है ।

शरीर चाहे जिस डील-डौल का हो, प्राणों के लिए सूक्ष्मता अनिवार्य्य है । कला का साँचा-ढाँचा शरीर-स्थानीय होने के कारण स्थूल है, सहज ही पकड़ में आ जाता है; किन्तु सूक्ष्मतम होने पर भी प्राणों को उसकी नाड़ी-नाड़ी में प्रतिष्ठित करना ही पड़ता है, अन्यथा पक्षाघात-पीड़ित अवयव की भाँति प्राण-हीन स्थूल शव-सदृश हो जाता है । सूक्ष्म प्राणों को पकड़ने का उत्साह सँजो-

कर ही स्थूल शरीर का सहारा लेना पड़ता है; क्योंकि प्राणों को पकड़ में लाने का और कोई सुलभ उपाय नहीं है। इसलिए कलाकार सप्राण शरीर का निर्माण करनेवाला ही हो सकता है, शव-निर्माता कदापि नहीं। दूसरे शब्दों में, स-प्राण आकृति कला है, केवल आकृति नहीं।

दुरुपयोग की बात न्यारी है। विद्योदय का अर्थ अविद्या का विनाश अथवा ज्ञान का दिव्य आलोक प्राप्त करना होता है; परंतु देखा जाता है कि बहुतेरे विद्वान् ताल ठोंककर अखाड़े में उतर आने को ही विद्या के उदय का परम अभ्युदय समझते हैं। इसी प्रकार शक्ति का वास्तविक उपयोग आर्त्त-त्राण है, बेकसों-मासूमों को पैरों-तले रौंदते-मसलते चलना नहीं; किन्तु अधिकतर शक्तिशाली रेंगने-बिलबिलानेवालों की हस्ती मेटने में ही अपने बाजुओं को आजमाते हैं। इसलिए यदि कोई अनाड़ी कला की बाराखड़ी सीखे बिना ही जिन्दगी-भर लेखनी लुढ़काता फिरे तो 'उसे कलाकार न मानना अक्ल के दीवालियापन का सूचक कदापि न होगा।

पहाड़ की ऊँची-से-ऊँची चोटी से रोड़ों-पत्थरों को ठेलती-धकेलती, 'हर-हर' कर बहती निर्झरिणी अपने-आपको कलाकार नहीं कह सकती जीवन और यौवन की वह मदमाती, कला का जड़ उपादान ही समझी जा सकती है, भले ही उसकी चेतन आकृति आँकनेवाले को वह उपाधि अबाधित रूप से प्राप्त हो जाय! इसलिए स्वयं जीवन कला नहीं है, प्रत्युत जीवन को काट-छाँटकर कला के लायक बनाना पड़ता है, यही कारण है कि साधारण जनों में यह कटाई-छँटाई ही कला की आख्या ग्रहण किए हुए है, और वह कला को कारीगरी कहकर एक प्रकार के सुख का अनुभव करते

[illegible]; किन्तु कला कारीगरी नहीं, जीवन की कारीगरी है। कला-[illegible]ीन जीवन जैसे जड़ जीवन है। सामान्य प्रवृत्तियों के हाथ के [illegible]खलौने तो पशु-पंछी भी होते हैं, फिर उनकी (प्रवृत्तियों की) [illegible]र्य्यादा ने ही जैसे मानव को उनसे ऊँचा उठाया है, वैसे ही सत्य [illegible]ा जीवन की कुछ सुन्दर, सुरुचिपूर्ण मर्य्यादाएँ ही 'कला' शब्द [illegible]ा अभिहित की जाती हैं।

तात्पर्य्य यह कि सुन्दर सरणि से सत्य को अभिव्यक्त करना [illegible]ी कला है। सत्य को साध्य और सौन्दर्य्य को साधन मानने [illegible]ी प्रणाली भर है, वस्तुतः सत्य और सौन्दर्य्य का समीकरण कला [illegible] जिसमें सौन्दर्य्य आकृतिगत एवं सत्य प्राण-स्वरूप समझा जाता [illegible]। और, यह सौन्दर्य्य भी कोई नई सूझ नहीं, हमारी सुरुचि या [illegible]चि की मान-मर्य्यादा का ही परिचायक है—उसीका दूसरा नाम [illegible]। जैसे जीवन के समुचित विकास के लिए संयम अत्यन्त [illegible]ावश्यक है, वैसे ही सत्य के मर्मस्पर्शी प्रकाश के लिए सौन्दर्य्य [illegible]तिशय अपेक्षित है। सौन्दर्य्य के बिना सत्य की अभिव्यक्ति [illegible]ी ही नहीं सकती, ऐसी बात नहीं है: किन्तु वह अभिव्यक्ति प्रिय [illegible] होगी,—स्तर उभारकर आप ही प्राणों में पैठ जानेवाली न होगी, [illegible]ना ही कहा जा सकता है।

कल्पना करें कि सुर-सरिता का कल-कल निनाद अथवा [illegible]हगों का कोमल कलरव सत्य है, तो उसकी अभिव्यक्ति के लिए [illegible]म जो सुरों को एक निश्चित क्रम में बाँधते हैं, उसे ही स्वर-[illegible]ौन्दर्य्य कहते हैं। इस प्रकार सत्य के सौन्दर्य्यमय स्फुटीकरण [illegible]ो हम संगीत-कला के नाम से पुकारते हैं; क्योंकि वहाँ संयत [illegible]अपेक्षित) स्वरों का प्रदर्शन ही अभीष्ट नहीं होता, बल्कि हमारे

स्वर किसी सत्य-विशेष को प्रकट करने के अभिलाषी होते हैं। इसी प्रकार, नीलम-नील गगन में सान्ध्य-श्री को सजीव बनाते रुपहले-सुनहले बादलोंवाले सत्य-चित्र की कल्पना करें जिसे चित्रकार रंग-विरंगी प्यालियों में डुबो-डुबो अपनी विद्युद्-द्युति तूलिका से पट पर हौले-हौले आँकता है। यहाँ दर्शनीय यह है कि रंगों की कमी-बेशी या रेखाओं के आकुञ्चन-प्रसारण की कला दिखलाता हुआ वह उसी सचाई को छूने की—चित्र-पट पर उतार लाने की बेकली सँजोए हुए होता है, केवल रंगों या लकीरों का खिलवाड़ उसका अभीष्ट नहीं होता। ऐसा होता तो हर कूची-प्यालीवाला 'कलाकार' कहा जाता और तब कलमुँही 'कला' कहीं दूर-दूर बियाबान में झख मारती, किस्मत को कोसती होती! कहने का प्रयोजन यह कि कला केवल सौन्दर्य्य नहीं, प्रत्युत सौन्दर्य्यमय सत्य का दूसरा नाम है।

किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि प्रत्येक कला-कृति सौन्दर्य्यमय सत्य कही जा सकती है। वस्तुतः 'सत्य' एक ऐसा पेंचीदा-उलझा शब्द है कि उसकी निश्चित रूप-रेखा बता सकना सम्भव नहीं। महाकवि 'प्रसाद' के शब्दों में—

> "और सत्य! यह एक शब्द तू, कितना गहन हुआ है;
> मेधा के क्रीड़ा-पंजर का, पाला हुआ सुआ है
> सब बातों में खोज तुम्हारी, रट-सी लगी हुई है;
> किन्तु स्पर्श से तर्क-करों के—बनता 'छुई-मुई' है!"

फिर भी सत्य की आकृति-प्रकृति के सुस्पष्ट निर्णय में जितनी कठिनाई जान पड़ती है, उसकी अनुभूति उतनी ही सरल भी होती है। इसका कारण यह है कि वह विशेष कर अनुभव का ही विषय

है । झगड़ा खड़ा होता है उसके प्रकट करने के तरीके को लेकर सत्य अपने तईं विवाद की वस्तु नहीं । अस्तु । प्रत्येक कलाकृति में सत्य की सत्ता किसी-न-किसी रूप में जरूर मौजूद रहती है किन्तु इतने पर भी प्रत्येक कृति समान सम्मान की अधिकारिणी नहीं हो सकती । कारण, सत्य प्रत्येक कलाकार के माध्यम से समान रूप से सौन्दर्य्यमय नहीं हो पाता । बस, यही तारतम्य उसके सामान्य-विशेष या उच्चावचता का कारण बन जाता है ।

कोई सर्वाङ्गसुन्दरी नर्तकी यदि सिर से पैर तक आभूषणों अलङ्कारों से सज-धजकर रङ्ग-मञ्च पर उतरे, तो भी दर्शक उस अङ्ग-विशेष अथवा अलङ्कार-विशेष की सर्वश्रेष्ठता अवश्य ढूँ निकालेगा । इतना ही नहीं, विभिन्न रुचियाँ प्राणों को पार क जानेवाली उसकी सूक्ष्मतम लावण्य-महिमा विभिन्न स्थानों पर भ ही प्राप्त कर लें ; किन्तु ऐसा नहीं हो सकता कि अनिन्द्य सौन्द र्य्यमयता में भी उन्हें 'तर'-'तम' का तारतम्य बैठाने हिचक हो फिर जहाँ 'सर्वाङ्ग-सुन्दर' की यह अवस्था हो, वहाँ अपेक्षाकृ 'अल्पसुन्दर' की व्यवस्था सहज ही अनुमेय है । वस्तुतः सत्य व भाँति सौन्दर्य्य भी कुछ कम कुहरा-भरा नहीं है । कैसा भी तीखा दाज हो, ऐन निशाने पर उसका पारिभाषिक तीर चूक जाता है विश्व के बड़े-बड़े सौन्दर्य्यशास्त्रियों की भी सारी बातें बावन तो पाव रत्ती ठीक नहीं उतरतीं ; आपसी मतभेद या रुचि-वैचित्र तो भूसा तौलने वाला तराजू है । यही कारण है कि टूटे दाँतोंवा 'शिव-ताण्डव' से नहीं थिरकते; ढोल की तरह बजनेवाले 'गीत गोविन्द' गाने नाक सिनसिनाते हैं । और, इसीलिए आलोचना का बाजार गर्म है ; नई-नई सूझों के लिए लोग सिर के बल रहे हैं ।

अनुभूति का पक्ष ग्रहण किया जाय तो सौन्दर्य्य भी सत्य की ही भाँति निरापद् सिद्ध होगा ; किन्तु अभिव्यक्ति का प्रश्न उठ बड़ा होते ही उसके भाव में वेभाव की पड़ने लगती है। कुछ भी हो, अनुभूति स्वयं कला नहीं, और सत्य-सौन्दर्य्य-ऐसे 'महत्' तत्त्व भी उसकी रक्षा करने में अशक्त हैं, इसलिए उसे अभिव्यक्तियों का मुँह जोहना ही पड़ता है, और अभिव्यक्तियों के साथ 'सामान्य-विशेष' हमेशा-हमेशा चिपके ही रहते हैं ।

'काव्य-प्रकाश' के काव्य-स्वरूप-निरूपण में एक ऐसी ही गाँठ लग गई है । मम्मट भट्ट ने काव्य का लक्षण लक्षित करते हुए अनलंकृती पुनः क्वापि' अर्थात् 'कभी-कभी अलङ्कार-रहित शब्द और अर्थ भी काव्य कहलाते हैं' लिखा है, और 'अनलंकृती' के 'नञ्' का 'स्फुट न होना' अर्थ बताया है । उनके कहने का तात्पर्य्य यह है कि काव्य में अलङ्कार अत्यन्त आवश्यक नहीं है । ऐसा इसलिए कि रस-स्थल में अलङ्कार गौण पड़ जाते हैं ; दिन के तारों की भाँति रस-सूर्य्य की प्रभा से अस्फुट हो जाते हैं , और, जो गौण या अस्फुट होगा, वह स्वभावतः सहृदयों का हृदय एक बार ही खींच लेने की शक्ति खो देगा । दूसरी ओर, चमत्कार उत्पन्न करना ही अलङ्कारों की पहली शर्त है, इसलिए चमत्कार-हीन अलङ्कार 'अलङ्कार' नहीं कहे जा सकते ; फिर वे वहां अनाहूत अतिथि की भाँति आएँ, या न आएँ,—एक ही बात है ; हृतसार शत्रु की भाँति 'रस-राज' का छत्र या चामर लेकर खड़े हों या गहन-गिरि की गुफा में मुंह छिपा बैठें, एक ही बात है । हाँ, जहाँ रस की प्रभुता न हो वहाँ वे अपना जबरदस्त ठाट खड़ा कर सकते हैं । इसलिए 'क्वापि' का अर्थ रस-रहित स्थल ही समझना चाहिए । एक बात और ध्यान देने योग्य है । जिस प्रकार सर्वथा

अलङ्कार-वर्जित रस-स्थल आसानी से ढूँढ़े न मिलेगा, उसी प्रकार रस-रहित अलङ्कारों की स्थिति भी सन्दिग्ध ही है। ऐसी अवस्था में 'प्रधान- अप्रधान', 'गौण-मुख्य' या 'सामान्य-विशेष' की गहरी पहचान ही दोनों को दो कक्षाओं में रखकर समझने में सहायता पहुँचाती है।[1] रस-प्रधान काव्य प्रथम श्रेणी का काव्य है और अलङ्कार-प्रधान काव्य तृतीय श्रेणी का, यह भी तभी समझ में आता है। कहने का तात्पर्य्य यह कि कला के विवेचन में समरसता नहीं काम आती, वहाँ सामान्य-विशेष का पल्ला पकड़ना ही पड़ता है। एक को दूसरे से तुलित-सन्तुलित किए बिना 'विशिष्ट सौन्दर्य्यमय सत्य', 'सौदर्य्यमय सत्य' अथवा 'सौन्दर्य्य-रहित (कुरूप, विरूप—कैसा भी) सत्य' साफ़- साफ नहीं समझाया जा सकता। यहीं 'सामान्य-विशेष' की बन आती है।

प्लेटो से टी० एस० इलियट तक और भामह से पण्डितराज—अथवा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—तक काव्य-कला के जितने भी पारखी हुए, उन सब के मतों का सार-संक्षेप केवल दो शब्दों में यों प्रकट किया जा सकता है कि एक वर्ग काव्य-कला को मनो विनोद की सुन्दर सामग्री समझता है और दूसरा उसे जीवन की अतलता का पारदर्शी दिव्य दर्पण। एक के विचार-विमर्श के अनुसार वह कर्म-क्लान्त मन को शीतल छाँह में लाकर कुसुम-किसलयोंवाली पारिजात की लोनी टहनी से गुदगुदाता है, तो दूसरे की छान-बीन, जाँच-पड़ताल के फलस्वरूप वह जीवन के कुरुक्षेत्र में बजनेवाला पाञ्चजन्य ठहरता है कि जिसकी मेघ-मंद्र-ध्वनि की ताल-ताल पर ओजस्वी वक्षःस्थल का तेजस्वी रुधिर नाच उठता है।

मैं अपना मध्यम पथ काव्य-कला को सौन्दर्य्यमय सत्य कहकर स्पष्ट कर चुका हूँ; क्योंकि मेरे विचार से इन दोनों मतों को दो दिशाओं में स्वच्छन्द प्रवहित होने के लिए छोड़ देने पर काव्यालोचन का अर्थ अखाड़े में उतरना हो जायगा।[७] आचार्य शुक्लजी छायावादी युग को छूते हुए इसीलिए हमेशा सहमते-सिहरते रहे और जब उसे डरते-डरते छुआ भी तो पारस की भाँति लोहे को सोना न बना सके। अलबत्ता सोने को, लोहा काटनेवाली 'छेनी' से, छाँट-छाँटकर लोहा अवश्य सिद्ध कर दिया। इसका कारण यही है कि उन्हें अपने सिद्धान्त का घोर आग्रह था; वह सब कहीं अपना मत 'प्रीच' (preach) करना चाहते थे। वह सूरदास की आलोचना करते हुए बार-बार लोकमङ्गल की, व्यापक भावना का अभाव देखते हैं, जैसे लोक-मङ्गल की उनके अनुकूल व्याख्या किए बिना सूरदास की जीवनव्यापिनी विशुद्ध काव्य-साधना फीकी पड़ी जाती हो! अन्य महान् समीक्षकों ने ऐसा नहीं किया है। संस्कृत-साहित्य में तो अलङ्कार-मत-वाले हों या ध्वनि-मत-वाले, वक्रोक्ति-मत-वाले हों या रस-रीति-मतों-वाले—सबने कालिदास की कविता को सर्वश्रेष्ठ ठहराया है। उनकी सारी पैंतरेबाजी लक्षण-निर्द्धारण को लेकर हुआ करती है, लक्ष्य-स्थल पर कमल-दल में मधु की प्यासी मधुकरी की भाँति उनकी आँखें एक-सी अटकती हैं। भले ही वे अपने-अपने ढंग से सत्य-सौन्दर्य्य का विश्लेषण करें; किन्तु 'मैथ्यू आर्नल्ड' और ब्रैड्ले' का भी अभिज्ञान-शाकुन्तल के सम्बन्धमें समान ही अभिमत होगा। मैं जब छायावाद आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करता हूँ, तो इसलिए नहीं कि मैं काव्य में वाद विशेष की सीमा स्वीकृत करने के पक्ष में हूँ; प्रत्युत केवल अपना आशय स्पष्ट करने के लिए ही मुझे वैसे-वैसे सर्व-विदित, व्यावहारिक शब्दों

का सहारा लेना पड़ता है ।

विश्वकवि की ऐसी विश्वजनीन कविता को कोई वाद के दायरे में लाकर क्यों देखे कि When I bring to you coloured toys, my child, I understand why there is such a play of colour on clouds, on water, and why flowers are painted in tints—When I give coloured toys to you, my child. ओ मेरे लल्ला, जब मैं तेरे लिए रंग-बिरंगे खिलौने लाता हूँ, तभी मेरी समझ में यह आता है कि बादलों में इतनी रंगीनी क्यों है—क्यों उन्हें सादा न रहने देकर भांति-भांति के रंगों से झलमला बनाया गया है! क्यों फूलों की पंखड़ियों पर हल्के गाढ़े रंगों की झाईं दी हुई होती है,—रंग-रंग के फूल क्यों खिला करते हैं!

मैं तो दृढ़तापूर्वक इस मत के माननेवालों में से हूँ कि काव्य की परिभाषा हो ही नहीं सकती; वह किसी 'वाद' के बन्धन में बाँधकर रखा ही नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त, एक प्रकार की कविता की समीक्षा का अर्थ दूसरे प्रकार की कविता का तिरस्कार नहीं होता। जैसे भिन्न-भिन्न रुचियों का समन्वय है, वैसे भिन्न-भिन्न रुचियों का नित-नूतन प्रादुर्भाव भी। यह सब खण्डित-सत्य के स्वरूप हैं, जो देश-विशेष या काल-विशेष का आश्रय ग्रहण करते हैं; किन्तु इन्हीं के संकलन से अखण्ड सत्य का भी पता मिलता है, जो त्रिकाल में सम-रस होता है। इसलिए काव्य-लक्षणों के शत-कोटि स्वरूप निरूपित हो कर भी उसके विश्वजनीन वास्तविक अस्तित्व पर पर्दा डालने में अब-तक समर्थ नहीं हुए; आगे कभी होंगे भी नहीं। समझनेवाले

लक्षणों की परवा किए बिना भी उसे समझने में नहीं चूकने। वस्तुतः विभिन्न रुचियाँ अपने-अपने ढंग से काव्य-सौन्दर्य्य का सन्धान ही करती हैं। भाषा, भाव, छन्द, अलङ्कार, रस, ध्वनि, कल्पना, अनुभूति आदि उसी की बारीकियों को छू लेने की ही प्रचेष्टाएँ हैं; क्योंकि—

"न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न स कला,
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवे:!"

कवि के व्यापक उत्तर-दायित्व के विषय में भला क्या कहना!—अरे, विश्व-कोष में ऐसा कोई शब्द नहीं; मानव-मन में ऐसा कोई भाव नहीं; लोक-वेद में ऐसा कोई मान्य सिद्धान्त नहीं; चौंसठों कलाओं में ऐसी कोई कला नहीं है, जो काव्य की सीमा से बाहर हो; कवि की पकड़ में आने के लायक न हो! यह सदा सत्य है।

काव्य-गगन की इतनी विराट् व्यापकता में से जो जितने नक्षत्रों को देख-दिखा पाता है, वह उतने से ही अपने को कृतकृत्य समझता है।

मुजफ्फरपुर '४६ } श्री जानकीवल्लभ शास्त्री

जाने क्यों मन डोल रहा है!
लाज-गड़े तट खड़े; चपल जल—
छलक-छलक कुछ बोल रहा है!

× × ×

थी आखें झिपने पर आई,
किसने फिर बाँसुरी बजाई?
शिथिल चेतना थी पहले ही,
और गरल क्यों घोल रहा है?

बाँसुरी

[मीरा के प्रति मेरा आन्तरिक आग्रह है। अब तक कितने ही गीत मैंने उन्हें लक्ष्य कर लिखे हैं। बाँसुरी भी उन्हीं में से है।

एक श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी के उपवास-शिथिल प्राणों की वाणी है यह। आकाश में "धूम-धुआँरे काजर-कारे" मेघ उमड़ रहे थे। रिमझिम बूँदें बरस रही थीं। मैं अपनी सूनी कुटीर में गुम-सुम बैठा ऋग्वेद की ऋचाओं पर आँखें गड़ाए था कि सहसा सिहरे समीर के परों पर तिरती-सी, सुदूर प्रान्तर से आती बाँसुरी की धुन सुनाई पड़ी। सुनते ही :—

'रम्याणि वीक्ष्य, मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्य्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्व्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि'

की मनोवैज्ञानिक उक्ति को सयुक्ति सिद्ध करती-सी भाव-स्थिर आँखें भर-भर आईं; किन्तु निर्जन मन की निष्पन्द शून्यता और घनी हो उठी। मेरे निराधार उर ने आतुर सुर से जैसे पुकार कर पूछा:—

"दूर स्मृति कोथा हते बाजाये व्याकुल करा बाँशि. झरे अश्रु-राशि!"

किन्तु वह सुखद दुःख मुख से इसी प्रकार प्रकट हो सका .....]

किसने बाँसुरी बजाई ?
जनम-जनम की पहचानी वह तान कहाँ से आई ?
किसने बाँसुरी बजाई ?
अङ्ग-अङ्ग फूले कदम्ब-सम, साँस-झकोरे झूले,
सूखी आँखों में यमुना की लोल लहर लहराई !
किसने बाँसुरी बजाई ?
जटिल कर्म-पथ पर, थर-थर-थर काँप, लगे रुकने पग,
कूक सुना, सोए-सोए-से हिय में हूक जगाई !
किसने बाँसुरी बजाई ?
मसक-मसक रहता मर्म-स्थल, मर्मर करते प्राण,
कैसे इतनी कठिन रागिनी कोमल सुर से गाई !
किसने बाँसुरी बजाई ?
उतर गगन से, एकबार फिर पी कर विष का प्याला,
निर्मोही मोहन से रूठी मीरा मृदु मुसकाई !
किसने बाँसुरी बजाई ?

रमना '४१

चाँदनी

[शरद पूनो की चाँदनी में सिकन्दरपुर के निकट का नारायणी-तट नीरव निशीथ-सा निस्तब्ध हो रहा था। 'कीट्स' के 'नाइटिंगेल' और 'शेली' के 'स्काइलार्क' के कामरूप स्वप्न नील निलय से उतर कर मूर्त्त सत्य-से भू पर चरण-सञ्चरण करते दिखते थे। अन्तर का तिमिर-भरा स्तर-स्तर तुङ्ग-तरङ्ग-भङ्गि-भरी आकाश-गङ्गा की 'नव-उज्ज्वल-जलधार' से एकाकार हो जाना चाहता था, अपनी अमूल्य मौलिकता मेट कर; जीवन में काँटे की तरह चुभता अस्तित्व खो कर। किन्तु वैसा न हुआ। मैं 'चाँदनी' के रूप-अरूप-निरूपण में सावधान हो गया।

कहाँ वह उल्लास कि चाँदनी को बाँहों में बाँधे था, कहाँ यह परिहास कि क्षीर-समुद्र को क्षुद्र घट में भर लेने की तत्परता दिखलाने लगा! कहाँ वह नीरन्ध्र बेसुधपन कि नीरवता का कलरव सुनाई पड़ता था और कहाँ यह अलङ्कार-सम्भार का कोलाहल कि ····· ·····]

नयन-मन-उन्मादनी
आज निकली चाँदनी!
आज केवल शून्य ऊपर, शून्य ऊपर,
स्वर्ग की सम्पूर्ण सुषमा आज भू पर!
सब कहाँ, हैं आज जो दो-चार तारे,
हेर वसुधा के हृदय का हार, हारे!
उमड़ता ज्यों क्षीर-सागर फेन-निर्मल,
चाँद उसमें है खिला ज्यों शुभ्र शतदल!
छा रहा दृग में नशीला एक सपना,
आज जिससे अवनि अपनी, गगन अपना!
तनिक बेसुधपन, नशा न, सुरूर केवल,
आसमाँ बरसा रहा ज्यों नूर केवल!

आज तो सब ओर सजता साज़ केवल,
कुछ प्रकट होता नहीं, है राज़ केवल !
कण्ठ-स्वर कोई नहीं, बस नाज़ केवल,
ठीक कुछ कहना कठिन, अन्दाज़ केवल !

पास जैसे कुछ नहीं, सब दूर, देखो,
मत छुओ, हो जायगी छवि चूर, देखो !

देखना हो, रूप यह अनमोल देखो,
मूँद आँखें और दिल को खोल देखो,
झूमती, झुकती, थिरकती, काँपती-सी,
पवन बहती प्रति-चरण कुछ भाँपती-सी,
मुग्ध लतिकाएँ, कुसुम-परिपूर्ण अञ्चल,
और अपने आप अञ्चल आज चञ्चल,
बेवजह रह-रह दहनियाँ मुसकुरातीं,
होश होता ही नहीं, सब मस्त, मातीं !
चेतना प्रत्येक जड़ में आज आई,
आज रज में स्वच्छ सात्त्विकता समाई !

फूल की पहचान सरस, सुवास केवल,
आज मुख दिखता नहीं, विश्वास केवल !

ज्योति का लावन, प्रकाश, प्रकाश केवल,
आज चिन्ताएँ नहीं, उल्लास केवल,
स्थिर न कोई, नृत्य केवल, लास केवल,
तृप्ति होती ही नहीं, है प्यास केवल,
टकटकी बँधती, जिधर है दृष्टि जाती,
आज सब दिन से अधिक है सृष्टि भाती,

किस तरह इससे भला मुँह मोड़ जाऊँ ?
अब कहाँ ऐसी धरणि को छोड़ जाऊँ ?

× × ×

काश मैं इस चाँदनी-सा व्याप्त होता,
स्वच्छ, निर्मल, विश्व भर का आप्त होता,
फैलता सम-भाव से जल और थल पर,
एक-सा टूटी कुटी, ऊँचे महल पर,
डोलता मैं सिन्धु की चञ्चल लहर पर,
बोलता गिरिराज के उन्नत शिखर पर,
सब किसी का प्यार पाता, जी जुड़ाता,
लोक में मैं स्वर्ग का आलोक लाता,
वह ललित आलोक करता लोल लोचन,
वह शिशिर आलोक होता ताप-मोचन,
वह मधुर आलोक जिससे प्राण हुलसे,
वह रुचिर आलोक जिसमें विश्व विहँसे,
सब किसी से जोड़ता मैं स्निग्ध नाता,
और आजीवन उसे हँस-हँस निभाता !

अखिल-उर-आह्लादिनी
हँस रही ज्यों चाँदनी !

वह सुनो तो, कौन खग-सा टेरता है ?
कौन छुप कर नीड़-नभ से हेरता है ?
अनसुने इस मधुर सुर से घेरता है ?
कौन उर में निठुर विरह बिखेरता है ?
गूँजती - सी बाँसुरी वातावरण में,
आज प्राण न रह रहे हैं आवरण में !

ढूँढ़ती आँखें किसे, आँखें किसे हैं ?
प्राण रो-रो पूछते—पाँखें किसे है ?
कौन तुम अनजान, अनदेखे, सलोने ?
कर रहे यों आज जादू और टोने ?
आज किसकी आ रही है याद रह-रह ?
विहँसते दृग से रहे क्यों अश्रु बह-बह ?
विरह युग-युग का किसी का घुमड़ आता,
चाँदनी में हृदय-सागर उमड़ आता !
पूछता हूँ, कौन हो तुम, कौन हो तुम ?
ओ निठुर, बेदर्द, क्यों यों मौन हो तुम ?
मौन की ऊमस कलेजे को मसलती,
मसकते है प्राण, साँसें है कसकती,
आज अपने में रहा जाता नहीं है,
आज सपने में बहा जाता नहीं है,
चाहता जो, वह कहा जाता नहीं है,
यह विरह अब तो सहा जाता नहीं है !

× × ×

तुम करो उपहास मेरी बेबसी का,
चाँदनी जो रूप वैसी ही हँसी का !

रमना '४२

सुमित्रा की शेष स्मृति

[रायगढ़ का प्रासाद-निवास तज कर मैं मुजफ्फरपुर की 'उपवन-तरु-च्छाया' में धूनी रमाए अद्वैत-वेदान्त का चिन्तन कर रहा था कि एक धूम्र-धूमिल सन्ध्या को परम-पूज्य पिता-श्री ने दिव्य दर्शन दिए। तब मेरे लिए शङ्कर के मायावाद के अनुसार 'हरित-भरित-गुल्लरित' तरु-लता-गुल्मों को 'शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे' समझना असाध्य ही नहीं, अश्रद्धेय भी हो रहा था; किन्तु शाश्वत आस्तिक पिता जी ने नन्हीं-नादान सुमित्रा की आकस्मिक मृत्यु का वज्रसार समाचार सुनाकर प्राच्य दर्शन-प्रणेताओं के अबाधित सत्य ज्ञान का जैसे तत्काल ही साक्षात्कार करा दिया। मैंने सुमित्रा के प्राणों के मूल्य पर उद्यान को श्मशान समझना सीखा।

"तो बहन, माँ की भाँति तू भी चुपके-से चल दी न! अरे, तू तो बचपन के वे दिन एकबार ही भूल गई, जब महामारी से मरी माँ की छाती तेरे सूखे गले को भी न भिगो पाई थी, मगर मैंने आँसुओं की झड़ियाँ लगाकर सारे ज्वर-तप्त शरीर को जलमय कर दिया था!

"हमारे सुख की सम्पूर्ण सामग्रियाँ प्रस्तुत कर पड़ोस की बूढ़ी दादी के हाथों सौंप, परिस्थितियों से विवश पिता जी जब 'बिहार शरीफ' चले गए थे तो भुट्टे और जौ की रोटियाँ चूहे के-से चोखे दाँतों से कुतर-कुतर कर हमने जो इक्कीस दिन पल छिन गिन कर बिताए थे; तू अपने हिस्से का दूध मुझे पिलाने आती और मैं छेंक के मिर्चे के टुकड़े बीन-बीन कर अपने बाँटे की सरसों की भाजी तुझे खिलाता, तू सोचती, पिता जी के आने पर मेरे असह्य दुःख-कष्ट का हाल तू बतलाएगी, मैं कहता कि चार बरस बड़ा होने के कारण यह कर्त्तव्य

मेरा है कि तेरी तकलीफें पहले मैं बतला लूँ, और ऐसे ही संकल्प-विकल्पों के बल हमने वे कल्प दिवस भी काट लिए थे,—भूल गई न ?

"उस साल गाँव में हैजे का कितना भयानक प्रकोप था ! हमलोग पलामू ले जाए गए थे। पिता जी वहाँ भी हमें मकान मालिक के पास छोड़ कहीं चल दिए थे। हमारे परस्पर के झगड़े झमेलों से डरता हुआ मकान-मालिक हमें रखते झिझकता था। एक माँ के न रहने से हम जैसे सारी पृथ्वी के लिए भार हो गए थे। सोने के गहनों से गुँथी उसकी गोरी-गोरी बहू किस प्रकार लाल-पीली होती रहती थी ! कई-कई दिनों के बाद जब पिता जी लौटे तो मकान मालिक के मुँह से हमारी न लड़ने-झगड़ने की अश्रुत प्रशंसा सुन खूब खुल कर हँसे। हाय ! तब वे इतना भी न सोच सके कि उनके बिना हँसना खेलना तो दूर, कलेजा फाड़कर रो लेना भी हमारे लिए सम्भव न था; क्योंकि वैसे करुण क्रन्दन से हमारे सहृदय आश्रयदाताओं के प्राणों, नहीं-नहीं, कानों को कितना कष्ट होता !"

स्वर्गीय विश्व-कवि ने मानवीय और ईश्वरीय प्रेम का मौलिक विभेद बन्धन और मुक्ति के सहारे समझाया है,—

By all means they try to hold me secure who love me in this world. But it is otherwise with thy love, which is greater than theirs, and thou keepest me free किन्तु मैं ? मैं इस ठोस अपार्थिव निष्ठुरता के साथ मिट्टी की उस गीली गीली ममता को किस प्रकार सन्तुलित करूँ ?

जीवन की जैसी टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डियों से डगमग पग धरता बढ़ता जा रहा हूँ, कुश-कण्टकों से छिद-छिद कर तलवों का छलनी हो जाना स्वाभाविक ही है। उपहास की तीखी नोक से अपराधों को उर पर अङ्कित करता, अपने ही हाथों एक साथ शत शत सुइयाँ चुभोता चला जाता हूँ; किन्तु हाय ! अब

देखो तो, इस सूनेपन की सरिता में--
मेरे जीवन का फूल बहा जाता है !

× × ×

जग का कोना-कोना सूना,
अन्धकार सब दिन से दूना,
सायँ-सायँ करता श्मशान-उर,
चुपके कौन जा रहा भूना !

काठदिलों ने काठ रख दिए कैसे अपरिचिता पर !
था भाई परदेश, माँ मरी, रोष अदोष पिता पर,
भीतर है जलधार, किन्तु ऊपर तो बालू-बालू
हाय 'फल्गु' ! किस भाँति बचाऊँ, जलती बहन चिता पर !

जान सका कोई न बहन, तू कब रोई, कब गाया,
मरते दम तक भी तो कोई तेरे काम न आया !
आग लगाई उसने, जिसपर मोती बरसाए थे,
जिसका जिगर जुड़ाया तूने, उसने तुझे जलाया !

× × ×

सदा यही मझधार, कल्पना भी न रही कूलों की,
चुभा किए काँटे नित, खुशबू तक न मिली फूलों की,
वरदानों—अच्छे कर्मों के तो ऐसे फल पाए,
और देखना है बाकी क्या ?—अब बारी भूलों की !

आज उड़ रही धूल, कुसुम-कुंकुम की कल होली थी,
लू लपटें हैं आज, किन्तु कल मधु-बयार डोली थी,
अब कोई विश्वास करे क्या देख-देख कौवों को,—
एक बार इस उजड़े वन में भी कोयल बोली थी !

सूखे कूप, तड़ाग, और जिसका घट भी रीता है,
कोई प्यासा गर्म-गर्म आँसू कैसे पीता है !
चूर-चूर हो गए अरे ! जिसके सारे मनसूबे,
वह मुझ-सा बेकार अभागा भी कैसे जीता है !

जीते-जी जो रहे जीतते, वे भी मरकर हारे,
सिर चढ़कर फिर गिरे, धूल में मिले फूल ये प्यारे,
तार टूटते ही आँसू का मैं हूँ देखा करता—
अन्ध गगन से टूट रहे जो छन-छन हाय ! सितारे !

दृष्टि उठाता हूँ, समस्त तब सृष्टि गिरी दिखती है,
सूने नभ में काली बदली घुमड़ घिरी दिखती है;
जब निगाह नीची करता हूँ, धिक् अपने को कहता
मुझसे खिंचे-खिंचे अग-अग की नजर फिरी दिखती है !

× × ×

तू सुनती है नहीं, मगर मैं कहता ही जाता हूँ,
तू हँसती है नहीं, कसक मैं सहता ही जाता हूँ;
पथ के पाषाणों से टकरा, प्रखर-वेग धारा में,—
तू न देखती बहन, किन्तु मैं बहता ही जाता हूँ !

रूठ गई कैसे, सनेह था कितना इस निष्ठुर से !
एक बार फिर लौट आ न, उस अनजाने सुर-पुर से;
"आ मा, तेरे बिना रात-दिन मैं रोती रहती हूँ"—
बहन ! बुलाता हूँ तेरी बिटिया के उर के सुर से !

चार महीने की थी तू, जब माँ मुँह मोड़ गई थी,
चार साल का मेरा नाता पल में तोड़ गई थी;
कैसे भूली वृद्ध पिता को, तब से जिनने पाला,—
जिनको सजल गोद में अम्मा तुझको छोड़ गई थी ?

जाड़े की उस ठण्ड सुबह में गर्म दूध ले आना,
रिझा-रिझा कर देर-देर तक तुझको स्वयं पिलाना;
तेल लगाना, नहलाना, टहलाना, दिल बहलाना
कैसे भूली वृद्ध पिता का माँ का गाना गाना!

रैन बिताई जिनने खग-सा दो अण्डों को से कर,
दिन काटे दोनों कन्धों पर हम दोनों को ले कर;
उन्हीं पिता की नाव पुरानी डगमग डोल रही अब,
कैसे तट तक लाएगे वह एक बाँह से खे कर?

प्राण-प्राण से मिल न सकें, ऐसा अभिशाप नहीं था,
बड़े घराने मे पैदा होने का पाप नहीं था;
बाँस-फूस की कुटिया में दोनों हिलमिल रहते थे,
तू तू भर थी नहीं, और मै अपने-आप नहीं था!

लड पड़ते थे बात-बात में, मार-पीट तक करते,
कोई लाख डराए, पर हम दोनों कब थे डरते!
तू चुगली करती, जब बापू मुझे मारने लगते,
याद नहीं है बहन,—नयन थे तेरे झर-झर झरते!

स्वयं पिता जी पिता और माता का भेद विचारें,
जितना पाया प्यार न मैंने, उतनी पाईं मारें;
इस जीवन-संग्राम की बहन, तू ही शेष विजय थी,
अब ये पापी प्राण रहें, जाएँ, जीतें या हारें!

मेरे बाँटे इस दुनिया में खोना-ही-खोना था,
लवण-सिन्धु में अपने दिल के छालों को धोना था;
वह कहते, क्या हुआ? किन्तु किस मुँह से उन्हें बताऊँ?
हुआ वही, जो किसी भाँति भी तो न हाय! होना था!

× × ×

कई चिट्ठियाँ लिखीं पिता को—अब तू घर पर आती,
बहुत दिन हुए, निश्चय मन-ही-मन होगी पछताती;
पर तू आ न सकी; तेरी ससुराल गया तब मैं ही,
वही आखिरी भेंट रही, कहते फट जाती छाती !

पिछले साल, जेठ था शायद, मामा के घर होकर,
पहुँचा वहाँ, बहुत-से भावों को मन-मध्य सँजोकर;
किन्तु प्रकट कर सका न जितना मैं शब्दावलियों से,
उतना तूने मुझे बताया सिर्फ सिसक कर, रोकर !

खींची साँस जोर से, जैसे बही पवन पुरवैया,
फिर बोली—क्यों "तुरत भूल जाते हो मुझको भैया !
हुए पिता जी रुष्ट, तुम्हारी कुछ भी कृपा न मुझपर,
निशि-दिन यही सोचती रहती—मेरी रही न मैया !

"बहुत दिनों तक कहीं तुम्हारा नहीं पता पाती हूँ,
खूब सोचती, पर अपनी कोई न खता पाती हूँ,
भैया, इससे अच्छा था—गूँगी होती, पशु होती;
दम घुटता, पर जब न हृदय की बात बता पाती हूँ !

"कभी उतरती हूँ कोठे से, और कभी चढ़ती हूँ,
नाम डाक का सुनते ही दरवाजे तक बढ़ती हूँ;
हो निराश सब भाँति कभी रोती हूँ, कभी तुम्हारे—
सभी पुराने पत्रों को ही दिन-दिन-भर पढ़ती हूँ !"

सुनकर, जैसे बिजली छू ली हो, चुपचाप रहा था,
पानी-पानी हुआ हृदय, पर विन्दु न एक बहा था;
जीवन में जो ताप, उसे तुझसे भी रहा छिपाता,
क्यों ऐसा पाषाण हो गया, कुछ भी नहीं कहा था !

"तीन दिनों से अधिक ठहर सकता न किसी के घर मैं"—
तू रोती ही रही खड़ी, चल दिया और हँसकर मैं;
समझ न पाई भेद कभी तू इन ऐसी बातों का,
तू छोटी थी बहन, हाय! था तेरा भ्रातृप्रवर मैं!

× × ×

असमय विदा माँगती माँ की तू उसाँस की वाणी,
दुखी पिता के बिखरे जीवन की संक्षिप्त कहानी;
मेरे सूने भाव-गगन की बहन, बनी तू बदली,
बरसाती थी इस ऊपर में स्वर्गङ्गा का पानी!

कैसी थी तू, विधि-विधान का मैं क्या लेता लेखा!
तेरी ही आँखों से मैंने बहन, तुझे था देखा;
वह तसवीर! चीरकर अपना हृदय दिखा पाता जो,
मेरे मटमैले प्राणों में तेरी विद्युत् - रेखा!

× × ×

सँभल-सँभल कर पग रखती होगी वह साधु-चरित्रा,
केवल पथ पर दृष्टि रखे होगी, वह परम पवित्रा;
ऐसी किसी नई पगली को इधर गुज़रते देखा,
कोई बता, वही तो होगी मेरी बहन 'सुमित्रा'!

कौन सुनेगा अब मेरे मानस की अस्फुट भाषा?
किसे बताऊँगा अब अपने जीवन की अभिलाषा?
गई छोड़ जब तू बचपन की विश्वासी साथिन भी,
इस झूठी दुनिया में किसकी और करूँगा आशा?

तू न जानती बहन, आह! क्यों व्यर्थ पुकार रहा हूँ?
तू स्वीकार करे न करे, क्यों मैं कर प्यार रहा हूँ?—

अब न किसी का मैं भाई, मेरी न बहन अब कोई,
आज यही झूठे भायप का भार उतार रहा हूँ !
ढाँचा टूटा एक नेह का, पुनः नया गढ़ना है,
खा-खाकर नित ठेस, ठोकरें, फिर आगे बढ़ना है;
वह कहते—माँ-बहन मरें, पर रोकर छन न गँवाऊँ,
अभी मुझे उन्नति की (?) ऊँची चोटी पर चढ़ना है !
इस बेकार कलेजे को टुकड़े कर देते जाना,
आँसू के सागर में डगमग नैया खेते जाना;
ऊपर सूना आसमान, नीचे पथरीली धरती,
मुझे मुबारक किसी भाँति दो साँसें लेते जाना !
याद करूँ मैं सदा, कहाँ इतना अवकाश बदा है ?
मेरे जीवन के छन-छन में घनतम पाश बँधा है;
विस्मृति में हूँ साँस ले रहा,—जीवन की स्मृति इतनी,
अभी मुझे भी तो मरने का करना रस्म अदा है !
कहाँ मिले स्वर्गीय सुमन ? मेरी दुनिया मिट्टी की,
विहँस बहन, क्यों तुझे सताऊँ कसक बताकर जी की !
अब आखिरी विदा लेता हूँ आह, यही इतना कह—
मुझ-सा भाई हो न किसी का, तुझ-सी बहन सभी की !

ङ्गा-तरङ्ग,
जून '४०

झङ्कार

[बरौनी जंक्शन के वेटिंग रूम में ईजी चेयर पर लेटा-लेटा चलती ट्रेन की बँधी-सधी ध्वनि पर उन्मुक्त-कौतुक विचार कर रहा था। सोच रहा था कि घटे, घड़ियाल, ड्रम आदि की भाँति इसकी भी वाद्य-यन्त्रों में गणना क्यों नहीं होती! नियमित आरोह-अवरोह की एकरसता इसकी विशेषता समझी जाती!

तभी ढोल, सींघे और शहनाई का कर्ण-कुहर-भेदी वैवाहिक स्वर-समारोह संगीत का समा बाँधने लगा। यौवन का उभार लिए बसन्ती बयार हौले-हौले डोलती जिसके सरस परस से काली कोयल के रोओं को भी हल्की-हल्की गुदगुदी लगती; स्वर मे पर लग जाते; वह रह-रह कर कूऊ-कूऊ कर उठती। एक ओर से 'कङ्कण-किङ्किणि-नूपुर-धुन' सुनाई पड़ती, तो दूसरी ओर से उखड़े-रुखड़े गले से छिडी चल-चित्रों के चलते गानों की तानें। बाहर, बरामदे में कुछ सम्भ्रान्त, अभिजात बाराती ग्रामोफोन के रेकार्डस् से मनोरञ्जन कर रहे थे। कभी अलमस्ती की अँगड़ाइयाँ लेते-लेते रासभ-स्वर से स्वयं ही धुधकारते और कभी कञ्ज-क्रोड़ में निष्पन्द मधुप के समान निष्प्राण हो जाते। संगीत की रंग-भरी सुरभि से सराबोर कैसा उल्लसित, पुलकित वातावरण था वह!

मैं इस नाद-नदी मे निमज्जन कर आनन्द-विभोर हुआ ही चाहता था कि किसी ने अन्तर के तुनुक तारों को बड़ी बेदर्दी से झकझोर दिया। विसंवादी स्वरों के संघात से मन विमन हो गया। आंखो की पांखें भींग कर भारी हो गईं। 'आवृत्त-चक्षु' होकर 'प्रत्यगात्म'-चिन्तन-सा करने लगा :—

इस गोचर नाद-ब्रह्म का एक-एक कम्पन हमारे जीवन-मरण का रहस्य है। राग का प्रारम्भिक आलाप जीवन का नवोन्मेष है; स्वर-विस्तार --बोल -

आगे बढ़ा कि लौटा तेरे पथ पर,
तेरी प्रभुता सबकी इति पर, अथ पर,
असह विरह की छुरी न छाती छिलती,
तू न बिछड़ती, एकबार यदि मिलती;
तुझ तक ही सीमित कर अपनी ममता,
जन्म-मरण की मिटती सुचिर विषमता।

चरण-चरण में तेरे नूपुर की झङ्कार !
जन्म-मरण में तेरे नूपुर की झङ्कार !!

बरौनी जंक्शन '४२
बी. एन. डबल्यु. आर.

अश्वत्थ

[पशु-पक्षियों के भी पेट है किन्तु उनके लिए किसी 'वाद'-विशेष की कल्पना वाञ्छनीय नहीं । और मानव, जो सबसे अधिक खाता है, दिनरात 'हाय पेट' की समस्या का समाधान करने में लगा है, बिना वाद-विवाद के उसे चैन नहीं; वह अनुक्षण अशान्त है; दुःखी है·····

उसने सभ्यता और संस्कृति के विकास का दिवा-स्वप्न देख आश्रम-तपोवन उजाड़ डाले; निरीह मृगों पर 'निशित-निपात' शर छोड़े; मेघ मेदुर अम्बर निहार पुच्छ-वितान तान कर नृत्य करते मयूरों पर रुधिर-मांस की लोलुप दृष्टि दौड़ाई किन्तु·····

"उसे रोटी की भूख नहीं, ज्ञान की है; शान्ति की है। घरौंदों से महल, महलों में कँगूरे, कँगूरों पर आसमान के तारे सजानेवाले मानव की क्षुधा-तृषा रोटी से दूर न होगी, उसे आलोक दो; शान्ति का सुख प्राप्त करने दो ! समुद्र की भाँति सम्पूर्ण सृष्टि के तीन हिस्सों को गटक, निगल कर भी उसका पेट अभी तक खाली है, (still Thou pourest and still there is room to fill) वह पेटू है, भूखा नहीं ·····"

कुछ ऐसे ही प्रतिक्रियात्मक, पलायन-पंथी (!) भावों के निर्जन वन में मैं रो रहा था । तभी शान्त साधना और कोलाहल-कुशल आडम्बर के संघर्षात्मक घात-प्रतिघातों ने भी आलोड़ित-विलोड़ित करना शुरू कर दिया। कैसा उखड़ा-उखड़ा-सा मस्तिष्क था उस वसंती पतझर में ! पुतलीघरों के धुएँ में जैसे सत्य का दम घुट रहा हो; तिमिर पर्व में प्राणों के प्रकाश पर

अन्ध-आवरण (shade) डाला जा रहा हो; विज्ञान ज्ञान का गला दबोच रहा हो; राजनीति नीति को धता बता रही हो !··· ··

जैसे अतृप्त वासनाएँ स्वर्ग की रोचक कल्पना से पूरी की जाती हैं उसी प्रकार मैं चिरन्तनता की सुधा पिला मूर्च्छित सत्य को आश्वस्त करने लगा। और, मौन साधना के तपःकृश शरीर पर प्रचार की 'कार' दौड़ा कर विजयी आडम्बर की धूल उड़ानेवालों को इतना ही कह सका कि—

जो सोए स्वप्नों के तम में
वे जागेंगे—यह सत्य बात;
जो देख चुके जीवन-निशीथ,
वे देखेंगे जीवन – प्रभात !

अश्वत्थ के निर्माण के अव्यवहित पूर्व क्षणों का मानसिक वातावरण ऐसा ही गोधूलि-जैसा धूल-अन्धेरा-भरा था जिसमें किसी नई ब्याही बहू की हल्दी से पीली हथेली पर काँपते सान्ध्य-दीप की झिलमिल-सी एक हल्की-हल्की रश्मि-रेखा दीख रही थी।

"ऊर्ध्व मूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" के ज्ञानवान् इसे किस रूप में ग्रहण करेंगे, मुझे क्या मालूम ? मगर मेरा 'अश्वत्थ' भी अक्षुण्ण शाश्वत सत्य की व्यापकता, विश्व-जनीनता का ही प्रतीक है। ब्रह्म या सत्य निरुपाधि रह कर अधिक व्यापक है या सोपाधि होकर अधिक उपयोगी,—यह स्वयं मनन करने के योग्य है।

मुझे कभी-कभी ऐसा प्रतिभासित होता है कि भाषा के विकास के साथ-साथ भावों का अभाव भी होने लगता है। सूत्रों में ही इतने भाव गुँथे थे कि भाष्यों की आवश्यकता हुई। महिमा और गरिमा से भी पहले अणिमा का उल्लेख किया गया है।

महर्षि वेद-व्यास "ऊर्द्ध्व-बाहु" हो, रो-रो, पुकार-पुकार कर कह रहे हैं, लेकिन उनकी कोई नहीं सुनता ! फूल-फल पाने के लिए लोग डाल-डाल, पात-पात पर पानी छिड़कते चल रहे हैं, मगर सूखी जड़ की तरफ निगाह जाती ही नहीं !—**धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ?**·····]

(१)

अश्वत्थ खड़ा है आज भी !

जितने पौदे सम-समय के रहे इसके,
वह एक-एक कर, अब सब के सब खिसके !
वह जुही, माधवी, बेला की फुलवारी—
वह महमह करती जो केसर की क्यारी,
जो बाल रसाल, तमाल तरुण थे घेरे;
हर पंछी जिनकी डाल-डाल से टेरे,
देखे जो उधर, इधर न नजर फिर फेरे,
घर-घर जिनकी थी चर्चा साँझ-सबेरे,
जल्दी-जल्दी जो बढ़े, चढ़े सुर-सिर पर,
मुरझा-मुरझाकर मरे, अरे ! गिर-गिरकर !

कारण, वह खुद न बढ़े थे, गए बढ़ाए,
सींचा करता माली दिन भर मुँह बाए,
लग जाए डीठ न वनपशुओं की उन पर—
घेरे जाते तीखे काँटे चुन - चुनकर,
पड़ जाए धूल न मुकुल-फूल पर उनके—
माली रखवाली करते पक्के धुन के,
होता प्रचार उनका था प्रदर्शिनी में,
उनकी खुशबू उड़ती अम्बर-अवनी ,

अफसोस ! मौसमी हवा-संग वे आए,
कुछ दिन इतरा-इठलाकर द्रुत-पद धाए,
अश्वत्थ खड़ा है आज भी !

(२)

सह सकी न कदली बदली-ऋतु की आँधी,
प्रिय बाल-वल्लरी बिछड़ी तरु-उर-बाँधी;
वे थोड़े जो सहते झंझा के झोंके,
जो बीच-बीच जीते मृत्युंजय हो के !
क्या कुन्द-कुसुम आतप में तप फूलेगा ?
या लोध्र-विटप पावस में हँस झूलेगा ?
चाँदनी शरद की देख कनेर हिले क्यों ?
सूखे शिरीष को शिशिर तुषार मिले क्यों ?
कोमल कदम्ब क्यों भला आग से खेले ?
क्यों अमल कमल हेमन्त-हिमानी झेले ?

अश्वत्थ किन्तु आँधी, झंझा या पवि क्या ?
वर्षा क्या ? हिम क्या ? आग उगलता रवि क्या ?
सब सहता मुसका-मुसका कर, हँस-हँस कर. -
जब सब तरु कहते "त्राहि-त्राहि, बस-बस कर !"
जब और-और पादप बन बौड़ा-वामन,
धँसते-से जाते कम्पित तन, व्याकुल मन,
तब और-और अश्वत्थ उठाता है सिर,
ज्यों स्वर्ग-धरा-सम्मिलन-साधना में स्थिर !
सब फिसल गए स्वर्गीय सीढ़ियाँ चढ़कर,
सब पिछड़ गए ऊपर उठ-उठ, बढ़-बढ़ कर,

अश्वत्थ खड़ा है आज भी !

(३)

"मुँह में कोमल कोंपल की सीटी ले लो,
बालक हो ! आओ, घनी छाँह में खेलो ।"
"दुपहर में, डालों में झुक झूले डालो,
लो, साँझ हुई बालाओ ! दीपक बालो ।"

"साध्वी सुहागिनो ! रँगे सूत्र हँस बाँधो,
कर प्रदक्षिणा गार्हस्थ्य-साधना साधो ।"
"पशुओं को दोगे ? हरी पत्तियाँ तोड़ो,
हो श्रान्त पथिक ? मत शीतल छाया छोड़ो ।"

"गाएँ चरती हैं, ग्वाल-बाल ! तुम आओ,
श्रम-बिन्दु पोंछ टुक वंशी यहाँ बजाओ ।"
"इन्धन की तुम्हें जरूरत ?—डालें काटो,
मत रार बढ़ाओ भाग बराबर बाँटो ।"

"नटखट लड़के ! हैं उधर घोंसले हर पग,
हाँ, सँभल-सँभलकर चढ़ो, न हों पग डगमग !"
"भूखो ! लघु-लघु मीठे-मीठे फल खाओ,
कुछ भी न रोक, वह टहनी और झुकाओ ।"

तरु भी होता है क्या स्वार्थी मानव-सा ?
इससे तुम बरतो देव या कि दानव-सा !
यह क्या अपना ? इसका सर्वस्व तुम्हारा,
नर बढ़ा स्वार्थ-हित, घटा; न जीता, हारा !

अश्वत्थ खड़ा है आज भी !

(४)

जूझो भी क्यों भागे जाते जीवन से ?
तन से न शान्ति मिलती, मिलती है मन से !
जीवन का अर्थ न आत्म-हनन हो सकता,
रो-रोकर कैसे कोई दुख खो सकता ?

यह वयोवृद्ध अश्वत्थ कहे क्या तुमको ?
शिशु हो तुम, इसके आगे नाचो, ठुमको !
दिन बीते, बीते कितने पक्ष, महीने,
देखे जितने युग इसने, नहीं किसी ने,
इस दीर्घ-काल-व्यापी जीवन ने जाना,
कैसे जीकर पछताना !

सबसे न रूठते चुप होओ, मत चीखो !
अश्वत्थ-पदों के पास बैठ कुछ सीखो !
"मत डरो किसी से, और न कभी डराओ,
सिर झुका-झुकाकर उन्नत हृदय बनाओ !"

जो एक बार आया वह फिर-फिर आया
है शान्ति-दायिनी पावन इसकी छाया !
सब किसी के लिए इसकी बाँहें फैली,
इसकी जड़ होती कभी भी नहीं मैली !

होता स्थिर मन, भ्रम मिटता, हटती माया,
अश्वत्थ के तले किसने ज्ञान न पाया ?
अश्वत्थ खड़ा है आज भी !

सीतामढ़ी '४१

पतझार

[सम्भवतः दाहिने हाथ की तीन और बाएँ की दो उँगलियाँ तल कर चार चपातियाँ पका सका था उस दिन ।

दुपहर की चिलचिलाती धूप; धूल रमाए झूमती-घूमती वात्या; सामने का प्रतिबिम्ब-हीन निम्ब मरु-तरु-सा तना तना बना; किसी-किसी टहनी में एकाध बेमन टिकी पीली-पकी पत्ती; खोया-खोया घर-आँगन; सूनी-सूनी आँखें ! और तभी यह गद्य-सा पद्य उसाँस की हवा से हिल आँसू-सा छलक पड़ा !

माथे से पसीने की बूंदें पोंछता, दो-दो ग्रास पर गिलास साफ करता सोच रहा था :—

Still let me sleep, embracing clouds in vain,
And never wake to feel the day's disdain.

कैसी उदासी छा रही !
मीठे ज़हर के तीर ले,
मीठी कसक ले, पीर ले,
पछुवा हवा है आ रही !
कैसी उदासी छा रही !!
पथ ज़िंदगी का घोर है,
दिखता न ओर न छोर है,
यों साँस 'चलती जा रही' !
कैसी उदासी छा रही !!
फूले चमन से रूठ कर,
बैठी विजन में, ठूँठ पर,
है एक बुलबुल गा रही !
कैसी उदासी छा रही !!

रमना
२३-२-४१

कुन्द और उपगुप्त

[रायगढ़ का "ड्रेक गेस्ट हाउस" तब मेरा रैन-बसेरा था। उस रात "सन्त तुकाराम" नामक मराठी चित्रपट देखने से नींद उचट-सी गई थी। निश्चय ही "राम-कृपा भव-निशा सिरानी" की-सी शान्त-भावना मस्तिष्क को आकुल-व्याकुल किए हुए थी। पाँच बजते-बजते अपने पड़ोसी श्री विश्वनाथ मुकर्जी के साथ जंगल-पहाड़ की ओर घूमने निकल गया। झींगुरों की झङ्कार से वन-प्रान्तर मुखर हो रहा था। पैरों के समीप से झुरमुटों में दुबके शशक-शावक चौकड़ी भरते निकल जाते। तीतर की 'किर-कोंकों' और मोर मयूर की 'षड्ज-संवादिनी केका' सुन सम से पहले ही दिल हिल जाता। ताल की कमी चट्टानों से टकराते बूट पूरी कर देते।

दो मील जाने पर फिर दो मील और इस प्रकार आठ मील तक चलता चला गया। विश्वनाथ थक कर लौट गए। मन की-सी वह लम्बी दौड़ गहन वन को चुनौती देती दिखती थी। उससे भी आगे जाने पर एक उज्ज्वल-नील नीर-धार चमकी, जो उस अजान प्राण-हारी दण्डकारण्य में मरु-मरीचिका के समान मूक आह्वान लिए प्रतीत हुई। हिंस्र पशुओं की ग्रीष्म-जल-केलि से कल्लोलित वह एक भयावह पल्वल था। उसके तट पर वन्य-सारस के अतिरिक्त कुछ और अपरिचित पंछी थे, जिनकी बोली चीख-सी तीखी थी।

उस दिन की डायरी में लिखा है कि रायगढ़ छोड़ देने का विचार ही मुझे राज-पथ छोड़ तलवार की धार-सी चोखी, पथरीली, ऊबड़-खाबड़ पग-डंडी पार करने को ललकार रहा था। —"अब त्याग के महत्त्व का अनुभव करने की लालसा लगी है। भगवान्! यह कोरी भावुकता तो नहीं? सँभालना,

मैं परदेशी हूँ, किसी भी रूप में आकर मुझे सिखा देना, डरना मत, मैं तुम्हें पहचान न सकूँगा, यहाँ का सब कुछ मेरे लिए अपरिचित है न ! जानते तो हो,—जा पर बिपदा पड़तु है सोइ आवत इहि देश !····· "

उधर से थका-माँदा, भूखा-प्यासा लौटा और जीवन में प्रथम बार वह स्वच्छन्द छन्द लिख गया। इसमें 'वासवदत्ता' और कलिङ्ग-विजय' की अवान्तर चर्चा है, इसलिए इतना और कह दूँ कि सोहनलाल द्विवेदी की वासवदत्ता या दिनकर की कलिङ्ग-विजय से यह कई-कई वर्ष पूर्व निर्मित ही नहीं, 'माधुरी' में प्रकाशित भी हो चुका था।]

पूर्वाभास

सम्राट् अशोक के आक्रमण से आकुल होकर कलिंग-देश-नरेश ने अपनी रानी तथा राजकुमारी को एव अनुभवी वृद्ध अनुचर के साथ किसी सुरक्षित दूरस्थ स्थान के लिए प्रस्थान करा दिया—वे सब वेष बदलकर चल पड़े।

राजकुमार अभी ब्रह्मचर्याश्रम में थे, गुरुकुल उनके लिए चिर-रक्षित, एकान्त, प्रशान्त स्थान था। तीनों यात्री अनेक दिनों की निरन्तर यात्रा के पश्चात् विश्राम के लिए एक रात मथुरापुरी के गृहस्थ-संन्यासी उपगुप्त के घर ठहरे।

इधर कलिङ्ग प्रतिदिन ध्वस्त होता जारहा था। और उसदिन तो प्रातः-काल ही मथुरापुरी में ढिंढोरे के साथ यह विज्ञापन सुनाई पड़ा कि जो कोई कलिङ्ग के राजकुमार को हुकूमत के हवाले कर देगा, उसे अनेक सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ मिलेंगी। कहना न होगा कि यह विज्ञापन सम्राट् अशोक का था। सुनकर तीनों यात्रियों के दुःख का ठिकाना न रहा। किन्तु राजकुमारी को एक युक्ति सूझी; वह पुरुष वेष में थी, उसछा रूप-रङ्ग राजकुमार से एकदम

मिलता-जुलता था। उसने अपने को बन्दी बनाने तथा असली राजकुमार को मुक्त रहकर कलिङ्ग के उद्धार के लिए सन्नद्ध होने की अनुमति रानी (माँ) से ले ली।

'Misfortunes never come alone' की लोकोक्ति के अनुसार उसी समय एक और दुर्घटना हुई। किसी ऋणदाता ने तत्क्षण रुपए न दे सकने के कारण उपगुप्त को कैद कर लिया। राजकुमार—वेषधारी राजकुमारी ने बतलाया कि वही कलिङ्ग के राजकुमार हैं, उन्हें कैद कराने से उपगुप्त को मुक्ति के साथ मुद्राएँ भी मिलेंगी। पर उपगुप्त ने सङ्कट-ग्रस्त अपने पूज्य अतिथि के साथ यह दुर्व्यवहार पसन्द न किया। वह कैद हो गए। बाद उनकी पत्नी राजकुमार का अनुरोध मान उन्हें छुड़ा लाई। उपगुप्त ने लौटते ही अतिथि का समाचार पूछा। पत्नी 'कुन्द' ने भी सब सच-सच बतला दिया। और फिर !.....

उपगुप्त—

कुन्द ! यह क्या किया ?
इतने दिनों के सहवास ने तुझे क्या यही
दी है पहचान मेरी ?—मेरे चारित्र की ?
सोचता था—"जीवन सजीव हुआ मेरा यह
पाकर तुझे ही- गुण्य-पुण्य-व्रतचारिणी को,
—उदिष्ट तप की सतत सहकारिणी को,
—एकमति, एक-प्राण,
अपनी अर्द्धांगिनी को !
टूटी कुटीर मेरी केवल जड़ रह जाती,
पाती न प्राण ! यदि प्राणोपम तुझको !
अन्धकार ही में विलीन होती क्षीणतर

मेरी समग्र वय
अपने ही घेरे में !
अन्ध वह बन्ध तोड़—
प्राणों के परम प्रकाश का; दिखाया मुझे—
तू ने ही विस्तृत क्षितिज जग-जीवन का !
"आज तक तुझसे छिपा है कौन कर्म मेरा ?
सत्य, बोधिसत्त्व का प्रकट सब मर्म मेरा !
नित्य कृत्य से था बतलाना तुझे धर्म मेरा—
जीवन - आदर्श,
शुचिता की उच्च-सत्ता को,
त्याग की महत्ता को !
सोचा था दूर कर दूँगा भ्रम सब का यह—
अर्द्धांगिनी के सङ्ग साधना न हो सकती !
सुकुमारी नारी—
सारी वासनाओं ही की नहीं—
बनी क्रीड़ा-पुत्तलिका !
उसके भी ज्ञान है,
प्राण है !
तप के न योग्य केवल पुरुष-परुषता ही !
"अपनी तपस्या का,
त्याग, बलिदान का
आधा अंश त्याग,
आत्म-याग की बनाऊँ तुझे—
पूर्ण अधिकारिणी !
सत्य-व्रत-धारिणी !

किन्तु हाय !
मेरा विश्वास बना निःश्वास,
अकस्मात् आशा-पद्मिनी पर हुआ हिम-पात !
उतने उपदेश !
स-विशेष कर अभ्यास,
मेरी हृत्तन्त्री से तूने निकाला स्वर,
विषम, विसंवादी !!

कैसे कहूँ,—होता यदि वित्त-निष्ठ चित्त मेरा,
प्राणों में कि इन्दिरा-विलास की कु-लालसा,
शुद्ध होते बुद्ध - धर्म ही के न विचार मेरे,
जीवन में पाता जो न शक्ति ही विरक्ति की,
बहा - बहा दान - धर्म - कर्म में अतुल वह--
पूर्वजों की अर्जित विपुल धन - सम्पदा,
तो क्यों त्याग-इच्छुक मैं भिक्षुक यों बनता ?

"और उस दिन वह --
मदिर वसन्त की अनन्त-रस ज्योत्स्ना-स्नात,
आधी रात,
नीरव, निष्पन्द, मन्द-मन्द चल,
अगुरु - सुवासित - चिकुर - भार - सम्भार,
आम्र - नव - पल्लव - से ताम्र लोल सु - कपोल
तन्द्रालस लोचनों में द्राक्षा - द्रव यौवन का
अनिरुद्ध वासना का !
होंठों पर चित्रित मुसकान,
सुनसान देख

आसव-मत्ता-सी बढ़ी आई वासवदत्ता—
मथुरापुरी के धनी-मानी पथ-भ्रष्टों की—
परम-प्रणयिनी,
—अनङ्ग-रङ्ग-सङ्गिनी !
बोली कलकण्ठ-कण्ठ,
"तरुण-तपस्वी ! तव चन्द्र-मुख-मण्डल यह,
उन्नत विशाल भाल,
प्रतिभा-विभासित-दृग,
विस्तृत कपाट - वक्ष,
कन्धर धुरन्धर - तर,
सन्धि-बन्ध बन्धुर अति,
अङ्ग - अङ्ग उच्छल - तारुण्य की अरुणिमा !
अधिक छिपाओ मत—
बल से तिरोहित प्रबल तव अनुराग
काषाय-वस्त्रों को छाप कर छलकता !!
—जाने कौन, जादू कौन तुममें भरा है ?
मौन मेरा मन मान छोड़,
तव चरणों में लगा !
कैसी दृष्टि !
भुलसी जाती थी जिसे देख अभी,
पीयूष-वृष्टि फिर होने लगी उससे !
आते ही तुम्हारे पास
मेरा राग - रङ्ग भगा,
प्रथम विराग आज
जग-जीवन में है जगा,

आत्म-अर्पण को अति आकुल हुए प्राण,
कैसे कहूँ—भोग की न शेष रही लालसा !
—आज से न मेरा तन, मेरा मन,
और सुनो—
सकल सम्पत्ति-राशि,
—इङ्गित पर पाई हुई,
तेरे पवित्र-पाद-पंकजों पर अर्पित !
—शुद्ध-बुद्धि !
मैंने हँसी ही से किया वर्णन तव रूप का।
शंका मत करो—
सुन वेश्या के प्रलोभन-कर,
मोहन वचन को !
—अपना उद्धार किसे होता है प्रिय नहीं ?
वाराङ्गनाएँ क्या विहार ही हैं चाहती ?
भोग-अन्ध लोग देखा करते हैं रूप-रेखा,
उत्तेजक गीत सुन प्रीत होते उनके !
कोविद-जन कहते हैं इसे कला-प्रियता !!
किन्तु हाय ! असहाय,
चीर उर, अपना सन्ताप किसे
दिखलाएँ वेश्याएँ ?
सीखते हैं भीख माँगने कुबेर जिनसे
कुल, धन, मान देकर—
तन, मन, प्राण देकर—
दुर्गन्ध वासना की,
अन्धतम प्रेम की !

चीख़ उठने की चाह होती जब
कढ़ आती बरबस अजब 'आह',
कह उठते लोग—'वाह-वाह-वाह'
कैसी दरदीली तान !
—घृणा करो मत देव !
—मैं हूँ कलंकमयी
पाप राशियों से घिरी;
निर्यात फिरी मेरी !
आज कर तेजोमय दर्शन तुम्हारे
कहाँ पाप रहे ?
आप-ही-आप सब जल कर भस्म हुए !
पाप - शलभों का रमा भस्म,
शमा आई प्रभो !
देवता के दर्शन-क्षण नीराजन बनने।"
परम प्रसन्न सुन
वासवदत्ता की बात,
(टालकर जाल,
अज्ञान,
आवरण मन का,
आत्म-जागरण वह !)
दीन-दुःखियों में धन-वितरण करने को कह,
चला आया मङ्गलमय आशीर्वचन दे।
सकुच - सकुच सब
तुझसे बताया हाल
उसके आदर्श का,

अद्भुत विराग का,
विशुद्ध आत्म-त्याग का !
कुन्द ! कुछ याद है ?

कुन्द—

याद सब कुछ है ।
भूल नहीं सकती मैं
धन-निर्लोभ,
दुःख-प्रेम प्रिय, आपका,
त्याग-धर्म-रक्षणार्थ—
सत्य-तत्त्व-पालनार्थ
आत्माहुति की असाध्य साधना की साध ।
मुझ क्षुद्र अनुचरी पर
तरुण अरुण करुणा
शिक्षा-दीक्षाओं से प्रकाश का प्रदर्शन,
चूकों को निहार,
हार, मूक रह जाना हाय !
भूल सकने की बात ?
सत्य कहती हूँ—
अर्थ-लोभ से अनर्थ ऐसा,
कर सकती न कुन्द भ्रम से
किन्तु नाथ !
आपके सुदुःसह विरह की
करती अनल्प कल्पनाएँ
प्रेम-वश ही.....

गुप्त—

प्रेम नहीं, मोह कह,
सांसारिक, काल्पनिक मिलन की कुचिन्ता से
सन्तापित सर्व साधना को,
म्लान मन को किया!
—आदर्श होता यदि तेरा पवित्र उर,
चित्र खिँचा होता वहाँ
सत्य, धर्म, त्याग का,
मेरा भी,
बाहर से मिलन की न इतनी परवाह होती,
चाह होती एक,
—निज पथ पर सुदृढ़ रहूँ!
खूब किया मुग्धे! उद्धार मेरा,
डालकर संकट में पूज्य अभ्यागत को!
—सोच सही.
कितना उदार वह था कुमार,
रात भर का परिचय,
संकट में देख मुझे,
ऋणदों से त्राण करने के लिए
डाल दिए प्राण महासंकट में अपने!

कुन्द—

बन्दी होते थे जब,
आपद् के आतप में फुल्ल था मुखारविन्द,
मधु-सिक्त-पाँखें आँखें
निष्पन्द मधुपी-सी,

हिलते थे मधुर अधर मृदु मन्द-मन्द
मधु-मकरन्द -इन्दु-विन्दु थे छहरते !
हँसकर कहा था - 'देवि !
जाओ, छुड़ा लाओ उन्हें,
लक्ष-पति राक्षसों के तक्षक-शिकंजे से ।
अवलोक मेरा बन्ध
रंच भी न शोक करो,
मुक्ति की न इससे सुलभ
अन्य युक्ति और ।
निस्तार पाने को अपार पारावार से
सुचिर सुरक्षित यह एक ही तरी खड़ी ।
गौर करो -
दयामयी, तुम न सही, कोई और
निष्ठुर पकड़कर जकड़ता ही मुझको !
पूर्ण किया मेरा मनोरथ,
पथ का हे देवि ! पाथेय दिव्य दिया ।
उपगुप्त जी से मेरी ओर से निवेदन यह
करना—कि मैंने तुम्हें
बाध्य किया, दुस्साध्य—
किन्तु आवश्यक कृति के लिए ।
क्षमा कर देंगे इस बालक की धृष्टता को,
अद्भुत अशिष्टता को !"
विदा.....

उपगुप्त—

बस-बस मौन अब,

कुन्द ! यह बन्द कर व्याख्यान ।
(सुकुमार नृपति-कुमार आह ! मेरे लिए
इतना निठुर,
कैसे वज्र-उर हो गया !)
जानती है—
आज महाराज मगधेश की
देश भर फैल रही आँधी-सी अन्धाज्ञा
ध्वंस करने को कलिङ्ग-राजवंश का ?
बालक जितेन्द्र
जाने हाल क्या गजेन्द्र के
अन्तर्हित दन्त का ?
निविड़-तृणाच्छन्न
अपरूप कूप का ?
कैसे पहचाने—
अग-जग शोक-कारी
'अशोक'-नाम-धारी को ?
क्या ही सूक्ष्म समझा है
मर्म बौद्ध धर्म का
विराट् सम्राट् ने !
पाट दिया पृथ्वी को रुंड-मुंड-झुंड से,
नरलोक नरक बनाया रक्त-कुण्ड से,
तीक्ष्णधार भीषण कृपाण के प्रहार से
प्रचार किया हा हन्त !
'अहिंसा परमो धर्मः—सदय सिद्धान्त का !
जाल में फँसा देख

शिप्रा

बाल-विहंगम को,
व्याध साध पूरी कर लेगा
आज, व्याज से--
धर्म के, बेशर्म !
मालूम होगी तभी
तुझे अपनी भूल,
प्रेम जिसे समझी तू
कैसा वह तीक्ष्ण शूल !

कुन्द--

नहीं देव,
केवल सन्ताप से न होगा कुछ ।
पाप यह आत्म-ताप में न जल सकने का ।
अश्रु जल से न धुलने को यह अमिट मैल ।
ऐसी लाञ्छना न वाञ्छनीय कभी होने की ।
आचार प्रेम का नहीं, यह आत्माभिचार,
वामना, हुताशमयी !
क्षमातीत ऐसे महापराध-हेतु, सुनो,—
माँगती है मैला-फटा आँचल निज फैला यह—
नारी-जाति की कलङ्किनी
—विशङ्क रंकनी—
नई सीख, नहीं, भीख
अति प्रचण्ड दण्ड की ।
सोच चुकी, समझी भी,
—छोड़नी ही होगी
यह प्रपञ्च की प्रवञ्चना !

उपगुप्त—

'छोड़नी ही होगी
यह प्रपञ्च की प्रवञ्चना ?'
तब तो—उदार कुन्द !
पंजे से न साहूकार ही के,
किन्तु तूने तो
सदय छुड़ाया मुझे जग के शिकंजे से !

कुन्द—

हाँ, नाथ,
कुन्द अब इतनी सबला हुई ।
चेत गई खेत चुगते ही
शस्य-पालिका ।
बहुत दिनों से बन्द
नयन-कपाट को
एक झिटके में दिया खोल
आज अनमोल,
आकस्मिक, किन्तु
इस अघटित घटना ने ।
आँख खुलते ही अब
देख रही मानस के संयत प्रकाश में
सांसारिक-राग-रङ्ग-रञ्जित
विचित्रतर
अपवित्र चित्रपट ।

उपगुप्त—

नमो बुद्धाय !

शिप्रा

कुन्द—

श्रेष्ठिवर !
आज से बिसारा सारा साज वह ।
तोड़ दिया विश्व-वासना से दृढ़ कसा हुआ
व्यर्थ वह प्रेम-पाश ।
खोल दी पुरानी गाँठ
पति-पत्नी-भाव की ।
प्रतिपल के प्रबल उपदेश, आज, आपके,
समझी सफलता से ।
धन्यवाद सद्गुरो !
भगवान् बुद्ध
देवें शाश्वत सुख आपको !

उपगुप्त—

नमो बुद्धाय ।

रायगढ़ स्टेट,
१-१०-३८

मेघ-गीत

[उस वर्ष आषाढ़ का प्रथम दिवस कालिदास के मेघ को बुला लाने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुआ था। सूखा पड़ जाने से किसान कजली का आलाप भूल रहे थे। रसाल-डाल झूले की बाट जोह रही थी। "भ्रू-विलासानभिज्ञ" बहुएँ आकाश की ओर उदास आँखें उठा लम्बी-लम्बी साँसें छोड़तीं। किन्तु सावन शुरू होते न होते परदेशी घनश्याम अपने गगनाङ्गण में आ गए।

और, उस दिन की मुसलधार वर्षा तो भुलाए नहीं भूलती, जब मैं "मेघेर परे मेघ जमेछे आँधार क'रे आसे" गुनगुनाता किराए के मकान की छत पर खुले में जी भर भींग लेने को खड़ा हो गया था। तनों, टहनियों से हौले-हौले पिघल, ओले की तरह टपकते हल्के-हल्के वर्फ के टुकड़ोंवाले देवदारु द्रुम के समान मैं झूम ही रहा था कि पड़ोस के आँगन से किसी कामिनी के कण्ठ की कमनीयता समीर के सोपान से ऊपर आ गई।

मैंने देखा, उस घने अँधेरे में बिजली की कौंध-सी दिपती कोई सिन्दूर-भरित सीमन्तिनी अपनी कुमारी, श्यामा नन्द को अपनी ही तरह पावस-रस से सराबोर हो जाने के लिए उँगलियों के इशारे से, आँसू की लड़ी-सी विरह-गीत की कड़ी से आँगन में बुला रही है!

क्य वह यही फूहड़-सा ग्राम-गीत गा रही थी? .....]

अन्धकार - सघन गगन आज रे !
आओ, आँगन में सखि, आओ
झूम - झूम, झुक - झुक, टुक गाओ
रोज - रोज रहता गृह - काज रे !
अन्धकार - सघन गगन आज रे !
धारा झरती झर - झर, झर - झर,
भींगा मेरा आँचल, अम्बर,
आज सजा कैसा यह साज रे !
अन्धकार - सघन गगन आज रे !

× × ×

'वहाँ' भी घिरे होंगे ये घन,
'वहाँ' भी भरा होगा सावन,
कितनी निष्ठुर 'उनकी' लाज रे !
अन्धकार - सघन गगन आज रे !

मुजफ्फरपुर,
२२-८-३६

---

*

निराला

रखना सयानापन नहीं; किन्तु उसे एकबार ही भूल जाने की जादूगरी भी मैं अबतक न जान सका ।

निश्चय ही मैं अभी "थामस हूड" की भाँति 'I remember, I remember' लिखने नहीं जा रहा; और निराला जी के प्रतिदिन निकट से निकटतर होते रहने के कारण निःश्वास के साथ मुझे ऐसा कहने का भी कोई कारण नहीं दिख रहा कि I'm farther off from Heaven than when I was a boy, प्रत्युत मैं तो यहाँ यह निवेदन कर रहा हूँ कि अब तो निराला जी की कई-कई काव्य पुस्तकें प्रकाश में आ चुकीं; उन पर पन्त जी जैसे महाकवि ने सुन्दरतम कविता लिखी; किन्तु यह अकिञ्चन रचना आज से दस वर्ष पहले की है जब मैं प्रायः संस्कृत में ही कविताएँ लिखता था और जब निराला जी का एकमात्र काव्य-संग्रह 'परिमल' ही प्रकाशित था । उस समय भी पण्डित वाचस्पति पाठक और स्वयं निराला जी के अतिरिक्त अन्य किसी ने इसे कदाचित् ही देखा हो ।

सम्भवतः गर्मी की छुट्टियों में हिन्दू-यूनिवर्सिटी से घर जाते समय ट्रेन की प्रतीक्षा में मुगलसराय के प्लैटफार्म पर चहलकदमी कर रहा था कि ह्वीलर के बुकस्टाल की याद आई । वहाँ 'सुधा' का वह अङ्क खरीदा, जिसमें निराला जी के नव-निर्मित काव्य 'तुलसीदास' के कुछ प्रारम्भिक छन्द छपे थे । उसकी भाषा की रवानी और भावों की जवानी देख मस्ती आ गई । कहना चाहिए कि प्रस्तुत कविता की नींव वहीं पड़ गई ।

किन्तु अपने गाँव की वह सन्ध्या मुझे अब भी भली भाँति याद है, जब

वेणु, वामदेव, कृष्णकान्त आदि बाल बन्धुओं के साथ गदराई फलियों से उफनाते चने के खेतों की खबर लेता झूलते फूलोंवाले टेसू के पेड़ों की परिछाईं से साँवली दिखती, सीपी सी सुफेद सुरहर नदी की बालू पर मैंने इसकी प्रारम्भिक पंक्तियाँ लगातार लिख डाली थीं·····]

(१)

पनघट पर घट का घटाटोप -
गत - गौरव ; गौरव - निहित गोप,
वह बंद प्रणयमय कोप नन्द - नन्दन पर ;
व्याकुल कालिन्दी - कुञ्ज - कूल,
उड़ती वृन्दावन - मध्य धूल,
अब कहाँ तनों में फूल, मनोहर मधुकर !

(२)

चूता न चन्द्र से तरल - गरल,
चुभती न मुकुल - शय्या परिमल,
कल-कमल-मुखी अब कौन सरल - उर, भोरी ?
पल - पल पर बल खाती फिरती,
निज रूप - भार से भी गिरती,
ले युगल-कलस तिरती स्मर - सिन्धु न गोरी !

(३)

सस्मित-चित सरस-सुमन चुन-चुन
वनमाल गूँथती देख शकुन,
अब रुन-झुन, रुन-झुन कहाँ मधुर नूपुर - रव ?

यौवन-वन-विहरण, अलि-विलास,
उल्लास - हासमय रम्य - रास,
हँस रहा वहाँ अब सर्व - नाश, दैविक - दव !

(४)

तज रे ब्रज की रज - कीर्ण गली,
नागिन-लट, मृदु-पट, कनक - कली,
वृषभानु - लली छल चले छली चञ्चल - पद,
गा रहे सूर'-"प्रभु अबु ठगौ न",
मीरा बिसूरती,—कौन, कौन !
मति, देव, विहारी मौन, मिटा मधु का मद !

(५)

अति - पतित भावनाएँ गढ़ - गढ़,
गत-तृष्ण-कृष्ण-सिर पर मढ़ - मढ़,
उत्तुङ्ग शृंग चढ़ - चढ़ पाताल पधारे ;
जैसे बालक निज छाया से,
था ब्रह्म खेलता माया से,
उस पर कवि - मन भरमाया, स्मर - शर मारे !

(६)

विक्रय कर प्रतिभा का निर्दय,
कुछ अन्य फिरे गाते तन्मय—
नृप - गुण, कहते विनिमय यह है कविता का ;
निर्वासित करता एक रुष्ट,
तब करते पर को सु - परितुष्ट,
बादल - दल कज्जल - पुष्ट सत्य - सविता का !

(७)

यों नीरस हिन्दी - क्षिति ललिता
स्मर-शर-सङ्कुल-कवि-कुल-कलिता,
अबला - वलिता, दलिता होती जाती थी,
तुलसी - सूराञ्चित चिर - धन्या
भारति - सुरभारति की कन्या,
नागरी परी वन्या बन दुख पाती थी !

(८)

कर छिन्न - भिन्न तम वीत - तन्द्र
उतरे तब नभ से हरिश्चन्द्र,
अनुरूप रूप, उर मधुर, मन्द्र स्वर मनहर !
निज तन-मन-धन, सब कर अर्पण,
दे दिया उसे नव - आकर्षण,
पीयूष पिलाया हर्षण अञ्जलि भर-भर !

(९)

छाई परिमल ले हरियाली,
लोहित पल्लव, डाली - डाली,
फिर कूक उठी कोयल काली मधु - वन में;
इस छवि की स्थिरता हेतु धीर
तब कर्म - वीर श्री महावीर
सोचने लगे प्राचीर - सृजन - विधि मन में !

(१०)

गुरु, गुप्त, सनेही, रामचरित,

शङ्कर, नवीन, लोचन, जन-हित
श्रीधर, लक्ष्मी - धर, रत्नाकर भर भाई ,
पाण्डे नारायण रूप, प्रखर
हरिऔध काव्य-सृति-सौध-शिखर–
से सज 'सरस्वती' नई निखर कर आई

(११)

तन्द्रिल उर - तन्त्री झंकृत कर,
कुछ कवि अक्षय-मधुमय स्वर भर,
कर रहे अमर शुचि सुरुचि - पूर्ण कविता को ;
बढ़ते ही नित्य चले जाते,
खा ठेस मन्द - मृदु मुसकाते,
तम - पथ में चमकाते साधन - सविता को !

(१२)

इनमें ही पन्त, प्रसाद प्रमुख,
कृत-विद्य, सिद्ध-रस, सौम्य, सुमुख,
सह दुख-सुख विविध विधानाऽभिमुख जगत नव ;
माधुरी - भरी पहले की गति,
चैतन्य अन्य मङ्गलमय - मति,
यदि एक प्रकृति की प्रतिकृति, पर आत्माऽऽसव !

(१३)

शेली - रवीन्द्र - नन्दित - निनाद
हिन्दी - उर्वर - उर पर अबाध—
छबि - छायावाद अगाध जलधि - जल छाया,

उसकी चञ्चल लहरों पर स्थिर,
गुरु-ग्राह मकर-कर से घिर-घिर,
पौरुष - प्रगल्भ, कवि एक लभ्य - चिर आया !

(१४)

परि पुष्ट काय, अनपाय - द्योति,
तम - तोम-होमकर - ज्वलज्ज्योति,
भारती - आरती, सुधा - च्योति - लौ विभ्रम;
उद्दाम - प्रतिभ, अतिशय प्रशान्त,
आयत - दृग, दीप्त ललाट, कान्त,
पर - तेजो ऽ सह श्री सूर्य्यकान्त रवि-मणि-सम !

(१५)

भावाभिव्यक्ति की शक्ति प्रचुर,
ध्वनि-रणित रम्य-रस-प्लावित उर,
प्रिय - प्रौढ़ पदावलि - वलित-ललित-कृति-धाता;
अन्तर्मन्थन स्वर सूक्ति - सूति,
ऊर्ध्वग गभीर अनुभूत - भूति
अभिनव भवभूति चिरन्तन - चिन्तन - दाता !

(१६)

चतुरस्र प्रगति, रोचन - लोचन,
कर लोकोत्तर काव्यालोचन —
कविता - वन्दिनी - विमोचन गुरु - कारा से;

नव - नव-सृति-निर्मिति-सफल-यत्न,
दीधिति - अवधारित - तम - सपत्न,
हिन्दी - नभ में विच्छुरित - रत्न तारा - से !

(१७)

गौरव से गिरि - गुरु - सा उन्नत,
पर मृदु - स्वभाव, धरती - सा नत,
अविरत साहित्योन्नति - रत, सकल - कलाञ्चित ;
अतिमेध्य मध्य - मणि काव्य-हार,
दार्शनिक, दीप्त - चक्षुः - प्रसार,
शारद - वीणा - झंकार - सार मधु - मज्जित !

(१८)

सर्वतोमुखी - प्रतिभा - भासुर,
करुणा - वरुणालय, निर्भय उर,
कण्टकमय - पाटल - हारि - हार - सुरभित - मति;
सुन्दर, शिव, सत्य—त्रितत्त्व-युक्त,
गद्य में, पद्य में समोन्मुक्त,
हिन्दी - रोचक का रूप धरे सुर या यति !

(१९)

आनन्द - इन्दु-रस-विन्दु—अमर ;
जिसका गिरि-उर-भेदक निर्झर,—
क्षिति का ही - तल शीतल करता लोचन-जल ;

जिसकी भाषा घन, - सिंह - नाद,
उच्छृंखल - प्रतिभा - यौवनोन्माद,
उन्मुक्त भाव जिसके निनाद - से कल - कल !

(२०)

सेवा - व्रत - हत - पार्थिव - प्रमोद,
हिन्दी - मन्दिर का मूर्त मोद,
साहित्य - सरस - अच्छोद - कमल - वनमाला ,
चिर आत्माराम, अगाध - मेध,
सारस्वत सित - शर शब्द - वेध,
अविराम - सिद्ध वह नाम प्रसिद्ध 'निराला' !

मैगरा,
२१-२०-३५

पार्वती के वाग्वाण

[यह पार्वती उत्तुङ्ग-शृङ्ग गिरिराज की सुकुमारी कुमारी नहीं, एक पतित पत्थर की पैदा की हुई, सौन्दर्य्य का महाशाप फटे आँचल में छुपाए 'अज्ञात-कुल-शील' बालिका है। इसकी कठोर तपश्चर्य्या —

(शिलाशयां तामनिकेत-वासिनीं
निरन्तरास्वन्तर - वात-वृष्टिषु
व्यलोकयन्नुन्मिषितैस्तडिन्मयै
र्महातपः साक्ष्य इव स्थिताः क्षपाः !)

से भगवान् वृषभ-वाहन प्रसन्न न हुए। यों उनके 'गण' भी साधारण सौंदर्य्योपासक नहीं, वे श्मशान की शव-केलि को रीति-युग' के कृष्णाभिसार से कम आकर्षक नहीं मानते ! .....]

है ज़हर पीने के लिए !
यदि अमृत जीने के लिए !!

अनुकूल या प्रतिकूल हो ,
हो फूल चाहे शूल हो ;
पर बात इतनी है सही ,
नभ बन नहीं सकता मही !
दी झोंक दृग में धूल है ,
जीवन न अपनी भूल है !!

कैसे मिला अभिशाप यह ?
जीवन !—मरण का पाप यह !

मौत अपने आप आती, किन्तु जीवन ?
कौन है तू मौन इसका करण, कारण ?

मैं नहीं निर्लज्ज, तेरी लाज की मारी ;
है कपोती तड़फड़ाती बाज की मारी !
सताया है मुझे किसने यहाँ सुनसान में लाकर ?
दिया चट्टान - पर किसने पटक घट सिन्धु-तट जा कर ?
हृदय में ज्वाल सुलगा कर, नयन में अश्रु-जल भर-भर—
मुझे किसने कहा जीने यहाँ दिन-रात मर - मर कर ?
कैसी वह शिशिर-निशा, न जिसे पा तपना !
वह क्या, मानूँ मैं जिसे सुनहला सपना ?
इस जनारण्य में आह ! अकेली आकर,—
वह कौन, पुकारूँ जिसे भला ! कह अपना ?
जिससे मरु भर रही मिताई ,
फिर भी मन की नहीं बताई ,
जो चरणों से लिपटी आई ,
जीवन पथ की धूल नहीं रे !
उर की ज्वाला किसे जलाए ?
किसे अश्रु-जल - धार बहाए ?
कोई कैसे इसे भुलाए ?
जीवन अपनी भूल नहीं रे ?

× × ×

न तेरे पास पूरी हो सकेगी आस मेरी ?
लहकते लाल नभ में जायगी उड़ साँस मेरी ?
हैं कटी, कैसे उँचाई मापतीं पाँखें ?
हैं सचाई देखने में मन्द ,
आधी बंद, आधी अन्ध ,
बुझ-बुझ झिलमिलाती, झँपती, झिँपती—

दिए की लौ बनी आँखें !
रो रही हूँ किस लिए इस ठौर ?
पो रही हूँ आँसुओं की मालिका
किसके लिए, यह तरल, निर्मल और ?
कौन हूँ मैं ?
मैं तुनुक - तन तूल हूँ !
अति - विवश, भू पर चू पड़ी ,
लघु - वृन्त से झट से झड़ी ,
पहने शिशिर - मोती - लड़ी
शेफालिका का फूल हूँ !
कौन हूँ मैं ?
मैं तुम्हारी भूल हूँ !
ओ विश्व, तेरे निःस्व, निर्धन अंक में ,
—सूखे सरोवर के हृदय के पंक में—
भुलसे हुए अरविन्द की सौगन्ध,—
तीखा खार, चुभता शूल हूँ !

रमना '४२

ध्रुव-पद

[छाया-दर्शन युग-धर्म के अनुसार अवैज्ञानिक ही नहीं, सफेद झूठ भी है। अलौकिक आलोक की रहस्यमयी चर्चा करनेवाले 'निराला' जी उन्मत्त और मीरा की धूलि-धूसर मयूख-रेखा देखनेवाले 'मुक्त' जी मायामय ही कहे जायेंगे।

Thought without action is abortion के विरुद्ध **"ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन"** युक्ति-युक्त नहीं ही माना जायगा। ऐसी दशा में मुझे इससे अधिक न कहना चाहिए कि वर्तमान कृति एक आध्यात्मिक भावावेश की प्रतिकृति है। यों तो—

'कवि आपनार गाने यत कथा कहे,
नाना जने लहे तार नाना अर्थ टानि,
तोमा पाने धाय तार शेष अर्थखानि!'

उन दिनों असफलताओं के चौमुखी प्रहार से मन तार-तार हो रहा था। फलतः अपने अभावों—अभियोगों को चुपा छुपा कर भक्ति-युग के कवियों से ज्ञान-योग के सन्तों तक की बौद्धिक परिक्रमा करता रहा। सोचता रहा कि साधना की व्यवस्था-हीनता ही साध्य तक नहीं पहुँचने दे रही; अन्यथा सत्य से बलिष्ठ विश्व की कोई भी विघ्न-बाधा नहीं है।—

"ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति"

जीवन की यह चाह नहीं है !
रुक - रुक कर जो साँस निकलती,
उसमें उर की आह नहीं है !
कैसे पिक की तान सुनाऊँ ?
कैसे मधुर गान मैं गाऊँ ?
मेरी आँखों में न अश्रु अब ,
मेरे दिल में दाह नहीं है !
सुध आती गुलाब के वन की ,
यह दुर्बलता मेरे मन की ,
यों, फूलों का मोह न मुझको ,
शूलों की परवाह नहीं है !
हँस-हँस कर सन्ताप लिया है ,
सुख औ' दुख को माप लिया है ,
सुख-सरिता में डूब न पाया ,
दुख का सिन्धु अथाह नहीं है !
लौट - लौट कर आना पड़ता ,
स्नेह नहीं, यह मेरी जड़ता ,
अब जाना, जिससे जाता था—
वह मञ्जिल की राह नहीं है !

मुजफ्फरपुर,
१६-१-४१

शकुन्तला

[काव्य-प्रतिभा के आदिम स्फुरण के दिनों में महाकवि निराला के श्रीमुख से आङ्गिक, वाचिक एवं सात्विक अभिनयों-समेत 'उर्वशी' सुनी थी। और जब कलम-कण्डूयन शुरू हुआ, कागज खुरचता चला गया था कि कवीन्द्र रवीन्द्र भी अपने उत्तराधिकारी वामनावतार पर बलि-बलि जाएँ! पर निराला जी के आत्म-गोपन के उपदेश-लगुड़ ने सारा गुड़ गोबर कर दिया। और तब कहीं यह 'शकुन्तला' पूरी चतुर्दशी होकर मध्यप्रान्तीय 'शुभचिन्तक' के माध्यम से प्रथम-प्रथम प्रकाश में आ पाई।

मैं तब शकुन्तला के आख्यान की भावात्मक व्याख्या दो तत्वों तक ही सीमित रक्खे हुए था कि पृथिवी के तेज का स्वर्ग भी वहन नहीं कर सकता,—तभी मेनका शकुन्तला को यहीं छोड़ गई;

कि मदान्ध गन्धगज-से काम को मङ्गलमूर्त्ति बनाने के लिए ही धर्म की त्रिपदी लगानी पड़ी;—राजभवन से तपोवन को बँधना पड़ा,—

'जीवन की तमिस्र-वेणी में
निज प्रकाश-कण बाँधो!'

अवनी-अम्बर के संगम से उदय! वन-भवन के मिलन से अभ्युदय!!·····]

(१)

राका—रजत - राजि—रजनी,
अशिथिल - निशीथ-मारुत-दोलित-दल ;
गगन-सौध से मन्द-मन्द, मन्थर-पद—
उतरी एक परी ज्योत्स्ना-सी उन्मद ,
शङ्कित - नयन, बंक - चितवन ,
सर पद्म-सद्म, मधु-चञ्चल अञ्चल,—
उच्छ्वास - वासिता,
स्वर्ग - त्रासिता ।

(२)

आरण्यक तरुणी - सी धरणी —
जागी मृग - दृग स्वप्न देख नव ,
चन्द्र-वदन घन-तन्द्र; चकित, कम्पित तन ;
पुञ्ज - पुञ्ज नूपुर - सुर मधुकर - गुञ्जन ;
उर-उर का प्रगाढ़ परिरम्भण,—
एकरूप सुर - पुर - मानव - भव !
पाणि - पल्लव गहा,
मेनका ने कहा :

(३)

"लेकर पार्थिव तेज स - गौरव
उड़ न शून्य में सकी, थकी, सखि !
धरे, धरोहर एक रखे हूँ जाती ,
स्नेहमयी ! मैं जलती - बुझती बाती ,

कलहंसों की घनी पाँत में
हूँ दुबकी-सी विकल वकी सखि !"
विमल - वेष - भूषा,
मुसकाई ऊषा ।

(४)

परखा प्रथम रश्मि ने—मानस-
सर - सुजात जलजात-बालिका --
पड़ी मृत्तिका - अङ्क अशङ्क हुलसती
पंखड़ियों में मोती - रोती - हँसती !
पावन वन, मधु - प्रात - पवन .
घेरे है गात शकुन्त मालिका !
महामुनि - नन्दिता,
वह अनिन्दिता ।

× × × ×

(५)

निरलङ्कार, चारु-गति, ऋजु-पद,
कालिदास - कविता - सी सरला !
कोरक - निहित - सुरभि - सी वन-वासिनि .
अयि, वंशी - स्वर-सी कोमल, कलहासिनि ,
जड़-से शान्त कण्व - आश्रम में,
जीवन - सी तू बाला तरला !
आलुलित-कुन्तले ,
शिशु - शकुन्तले !

(६)

कौशिक की सूखी समाधि का
सरस, मधुर फल सजल-गात तू !
जननि - मेनका का सौभाग्य - प्रणय वह,
नत तप से उन्नत-रुचि-शुचि-विनिमय वह,
प्रिय प्रतीक आलोक - लोक की,
भाव - रूप की प्रथम प्रात तू !
चराचर - रोचने ,
लोल - लोचने !

(७)

दो सखियों - सँग सींच रही
आश्रम-द्रुम-आलबाल बाला तू ,
क्षीण - पुण्य देवी - सी भू पर आई ,
चन्द्रकला - सी सुषमा - परिधि बनाई ,
चञ्चरीक - सुर - सुरभित - उर,
अरविन्द-मरन्द - भरा प्याला तू ,
स्वेद-सदन - वदने ,
अयि उन्मद-मदने !

(८)

कुलपति की कन्या आश्रम - धन्या,
तूने न विचारा क्षण भर ,
सरल - हृदय खो दिया तरल - अहृदय-कर ,
चिन्तामणि, क्यों यों विभोर, चिन्ता-पर ?

दुर्वासा का शाप बने वर,
या जग अगम-नियति पर निर्भर !
स-घन सौदामिनी,
दुष्यन्त-भामिनी !

(६)

विदा ले रही पुण्याश्रम से,
आज साज सज, दृग-युग भर-भर !
बंद विहङ्गम-गान, मन्द-मन कानन,
यन्त्रों-से ऋषियों का मन्त्रोच्चारण,—
बिखर-बिखर जाते मर्मर-स्वर
लता-वितान-तले झर-झर कर !
नव-प्रवासिनी
अयि उदासिनी !

(१०)

और न अब आएगी तू,
तरु-डाल-गले वनमाला बनने !
किसलय-किसलय झुला न अब झूमेगी,
फूली तितली अब न फूल चूमेगी,
राजभवन में वसन-विभूषण से
न लगेगी बनने-ठनने ?
विरस सस्य धानी !
विकृत प्रकृति-वाणी !!

(११)

होगी तेरे विना सखी री,
छल-छल-जल तल-म्लान मालिनी,
सायं-प्रात निहारेगी तेरा पथ,
—प्रिय करेणु प्रकटे प्रतीप-धारा मथ !
तब तो तू होगी परन्तु,
दुष्यन्त- भाग्य-सौभाग्य-शालिनी—
सुप्त पर्यङ्क पर !
पद्मिनी पङ्क पर !!

× × × ×

(१२)

जा आश्रम की समता, ममता
राज - सदन के मन में भरने !
राजनीति को प्रीति - प्रतीति सिखाने,
रूप-शलभ को मङ्गल-दीप दिखाने,
राजा आ जाए मानवता-
स्तर पर, शत-शत व्रत-तप करने !
जा, सजा आरती,
भारत - भारती !

काशी '३५

चाणक्य

[प्रस्तुत रचना 'अप्रस्तुत-प्रशंसा' की भाँति आई। 'अवन्तिका' कविता (जिसका नूतन तन 'अवन्तिका' में है) प्रथम बार अत्यधिक गद्यात्मक रूप में लिखी गई थी, और उसकी प्रारम्भिक पंक्तियों में कौटिल्य की चर्चा थी :

कौन कहे कौटिल्य कुटिल को, कविता सच लजवंती नारी,
मगध देश से निर्वासित हो, रो, अवन्तिका हन्त! सिधारी!
मरे भले चाणक्य, अमर है कूटनीति उसकी इस थल में,
अरे शोण! - शोणित की धारा मिली मगध के गङ्गाजल में!
राजनीति का जाल बिछाना, सद्य-फलद विद्या इस भू की,
गला काटना कला कि इसमें एकबार असिधार न चूकी!
मगध भूमि को शीश नवाता,—जन्मभूमि मेरी वह प्यारी,
'स्वर्गादपि गरीयसी' कह कर मुखर शारदा जिससे हारी!

कहना न होगा, यह 'चाणक्य' उसी असंयत आवेश की योग-मुद्रा है .....]

(१)

लक्ष्य हमारा शुद्ध, प्राप्ति-पथ कैसा भी हो!

रक्तपात से पङ्किल संस्कृति यदि रजस्वला,
होने दो; पङ्कज उससे ही कभी कढ़ेंगे!
छुटने दो उच्छ्वास, हवाएँ बहती ही हैं,—
इनसे हिल कर, खिल कर, पङ्कज सुरभि गढ़ेंगे!

(२)

विधि-विधान को समाधान तुम लोग मानते ,
वृत्ति वैतसी अपनाते लहरों के आगे ;
बात हमारी न्यारी , हम स्रष्टा के स्रष्टा ,
झटक तोड़ देते लहरों के कच्चे धागे !

(३)

तन्वङ्गी गंगा की दुबली - पतली धारा
राजरोगिणी-सी उजली - उजली थी लगती ,
शोण नहीं , शोणिमा उष्ण शोणित की भर कर—
तरुणाई दी जगा कि अब तट छाप उमगती !

(४)

शिखा दिखा कर कहते हैं , यह काली नागिन
ब्रज के कालिय से भी कोपन और विषैली ;
नन्द-वंश से निहत हुआ कालिय , पर इसकी—
गरल-ग्रन्थि तो नन्द , नन्दवंशज तक फैल !

(५)

करने दो निर्वाण प्राप्त बस शुद्ध बुद्ध को !
क्रान्तिकारिणी आत्माएँ छिटकी चिनगारी ;
जल जाएगा स्वर्ग , कभी हम जो छू देंगे ,
मुक्ति युक्ति है ; कर्मभूमि कर्मठ को प्यारी !

(६)

हम न कपिल की भाँति पुरुष को उदासीन कह
निरा प्रकृतिदर्शी रहने देनेवाले हैं !

पुरुष पुरुष वह जो कि प्रकृति को बदले, हम कब
स्रष्टा को द्रष्टा कहने देनेवाले
प्रगति हमारी नियत, मनोरथ कैसा भी हो !

(७)

मगधभूमि कविता-विहीन हो तो क्या चिन्ता ?
पौरुष ही है महाकाव्य इस महादेश का !
व्यक्ति तत्त्वदर्शी समाधि में उन्नति करता ,
उससे क्षय होता न राष्ट्र के पक्ष क्लेश का !

(८)

राष्ट्रोदय के लिए उचित है दण्डनीति ही .
कात्यायन, कर बंद, व्यर्थ है वार्त्तिक रचना !
मँडलाने हैं लगे विदेशी सम्पाती अब ,
पाठ पढ़ाना उन्हें उचित या लच कर बचना ?

(९)

कला - विलासी मन्द नन्द ने पुरुष राष्ट्र को
नारी की सारी पहना दी थी सँवार कर ;
घुंघरूवाले पैरों को मारू बाजे पर
कठिनाई से सके सिखा चलना दुधार पर !

(१०)

सतरंगी कंचुकी फाड़ लोहे का कञ्चुक
चढ़वाना है हमें राष्ट्र के अरुण वक्ष पर ;

यही राष्ट्र केशरि-किशोर-जैसा दहाड़ कर
टूटेगा अभियानी अरि-करि लक्ष-लक्ष पर !

(११)

व्यक्ति नहीं चाणक्य. प्रेरणा,—राष्ट्रचेतना,
जीर्ण-शीर्ण पथ तोड़, बनाता नई लीक वह;—
पोष्य पुत्र पर पक्षपात उसका न अन्ध है,
चन्द्रगुप्त ! हाँ, भारतीय-पौरुष-प्रतीक वह !

× × × ×

(१२)

योगेश्वर यदि विष्णुगुप्त तो चन्द्रगुप्त भी—
एक धनुर्धर; ज्ञान-कर्म की प्रकट प्रीति है;
तभी हमारी विजय, भूति, श्री, ध्रुव, निश्चित है,
गीता ही की सही, हमारी यही नीति है !
शान्ति अन्त परिणाम. क्रान्ति-अथ कैसा भी हो !

'४६

अश्वत्थामा

[अमर्षी अश्वत्थामा की यह क्षुब्ध वाणी परम्परा से पीड़ित नहीं है। यों वर्त्तमान की पृष्ठभूमि में अतीत के चोला बदलने की बारी अब भी नहीं आई— और मानवता के विकास पर इतिहासों का अम्बार लग गया !

...मात्राओं की क्रमहीनता आक्रोश तथा निर्वेद के अक्रम आवेग क अभिव्यक्ति मात्र है।]

(१)

सोचा था बदला लूँगा हत्यारे से .
टोली ही है जुड़ी यहाँ हत्यारों की !
कृष्णार्जुन—काले-उजले दो पक्ष-धर
गीध जमे; चर्चा निरर्थ हथियारों की !!

(२)

इन्हें चाहिए आमिष देव-मनुष्य का ,
प्यास रक्त की इनकी चोंच निचोड़ती !
युग-निर्माता हैं ये क्षुधा - पिपासा के .
दृष्टि न इनकी आत्मा तक को छोड़ती !!

(३)

सौ योजन तक इन्हें सूझता व्योम से ,
रक्त - कर्दमित पृथ्वी की क्या बात है !
यहाँ रपटते पाँव कि पिच्छिल पंथ है ,
कोई कीचड़-बीच धँसा; - बरसात है !!

× × × ×

(४)

चक्र घूमता, घूम रहा भूगोल है,
गोल हुआ नाता गुरु का औ' चेले का!
यहाँ शिखण्डी के पीछे गाण्डीवी है,
ढग और ही इस नरमेधी मेले का!!

(५)

भीड़भाड़ में एकाकी अश्वत्थामा,
किससे बदला ले, औ' किसको क्षमा करे!
मारे अर्जुन अमरों को ही गिन-गिन कर,
पाञ्चजन्य गो कृष्ण रक्त ही जमा करे!!

(६)

कुरुक्षेत्र का नाम इसीसे उज्ज्वल हो,
मानवता की हत्या यदि इतिहास है!
इसे निहत्या कौन काल के सामने?—
देश-काल के ऊपर चुप आकाश है!!

× × × ×

(७)

स्वर्गवासियों को हे तात, सचेत कर,
कहना,—गीध गगन में नित मँडलाते हैं!
क्या देखेगा सहस्राक्ष निःशस्त्र हो,
चोंच उठाए ये ऊपर ही जाते हैं!!

पद

(वागीश्वरी, विलम्बित)

—❀—

हम मरु-तरु हैं, लू - लपटों से—
मुरझे, झुलसे, जले हुए ;
हत शिशु हैं, कुश - काशवती
वनदेवि - अङ्क में पले हुए ;
हम आयत शिख स्निग्ध - दीप में
तनु पतंग - से तले गए ;
हम सुर-धुन के सुरधनु की—
छवि - छलनाओं से छले गए ;

× × × ×

काँटे तो रह गए टेंगे ,
मधु - गन्ध सुमन हम मले गए ;
नन्दन - वन को बंद देख ,
उच्छ्वास छोड़ते चले गए ।

काशी
५-८-३५

उक्ति

दीप पर जलते शलभ जो, जायँ जल ;
दीप अपनी ओर से निश्छल, विमल ;
फूंक कर कोई बुझा सकता नहीं,
स्नेह उसमें प्राण का, दृग का न जल !

× × × ×

डालियाँ भर दो तुम्हारी चाव से,
गूँथ गजरे तुम सको शुचि भाव से !
भाग्य फूलों का कि रौंदे जा रहे,
फेंकते तुम तो तमक कर ताव से !

× × ×

सत्य को मैं स्वप्न कह सकता नहीं,
मत सुनो, मैं मौन रह सकता नहीं ;
तुम बहाओ, धार उल्टी जो बहे,
मैं मगर इस भाँति बह सकता नहीं !

१-१०-३५

राखी की साखी

(देश)

—❀—

तुनुक रेशमी पीला धागा .
सुधा बहन ने भेजा.
मेरा रक्षाबन्धन जागा !
और नहीं तो सावन - भादो ,
मेरे पथ के माटी - कादो
कहाँ तीज - त्योहार, यहाँ तो--
एक - एक क्षण जाता भागा ?

× × × ×

तुम अपने हाथों बाँधोगी ?
उर में सुर सातों साधोगी ।
मुक्ता - मुक्ति अमिल. कि शुक्तिका ,
यह बन्धन मुँहमाँगा !

राखी '२००३

बिखरे मोती

[राजमहल की सुन्दरता देखते समय दीवारों में चुनी, शहीद ईंटों की याद नहीं आती। वैसी चर्चा भी अनावश्यक समझी जाती है। सच तो यह कि 'for this, for everything, we are out of tune.'

ये पद जाने कब, जाने किस विशेष भाव-स्थिति में मन की कारा तोड़ कर निकल पड़े थे और मेरे क्रूर नियन्त्रण से त्रस्त हो विश्व को अपना निर्दोष मुख न दिखा सके थे !

जिन्होंने मेरे उस समय के अविकच शब्दों और अस्पष्ट अर्थों का आतिथ्य ग्रहण किया, उन मनोभावों को आज मैं किस दृष्टि से देखता हूँ, यह कहना ममता की शव-परीक्षा से कम नहीं। निःसन्देह इनमें मरे लड़के की बड़ी-बड़ी आँखें नहीं, कुहरे का लिहाफ ओढ़े शिशु-रश्मियों की, दशन-बसन पर बिखरी स्मिति के कण हैं !

कभी 'बूढ़े महादेव' के पास नीम की झीनी-झीनी धूप-छाँह में, दरारों से सँवरे कुएँ के किनारे बैठ, हवा के हल्के-हल्के झोंकों से हौले-हौले झूमती पीपल की फुनगियों पर हार्षित पंछियों को चहक-चहक कर पके-पके फल खाते देख,

कभी मणि-कर्णिका घाट पर सरोज को "अलविदा" देते समय एक ही चिता पर पाँच-छः ला-वारिश मुर्दों को जलाए जाते,—मरने के बाद भी लग्गों की बेशुमार मार खाते देख:

कभी झाड़ी-झुरमुटों की सब्ज साड़ी पहने "शिव-पहाड़ी" के पत्थर के पृथुल वक्षःस्थल से पहली बार छलकी तरुण-मातृत्व की विशुद्ध दुग्ध-धार-सी धवल,

नवल निर्झरिणी के दोनों छोरों पर लचते, लहराते करौंदे, प्रियाल, बाँस, पलाश के बौने पेड़-पौदों को पावस की प्यासी आँखों से पी-पी; और --
कभी अपनी निष्ठुर, निर्मम मातृ-भूमि से सदा के लिए विदा ले, आधी रात को निरुद्देश्य निकल पड़नेवाले मेरे निष्फल शरीर की अधीरता से रक्षा कर, अपने सपने-से सुकुमार प्राणों को गँवा बैठनेवाले वामदेव की चुभती सुध से बेसुध होकर मैंने कितने-कितने पद बनाए थे !

आज उस विगत अतीत की धुँधली स्मृति पास की फाँक से झाँक-झाँक जाती है ! 'and should my future lot be cast with much resemblance of the past'.....]

'सर्वे भवन्तु सुखिनः

विश्व भर का हो भला !
विश्व भर को प्राप्त हो नव
ज्ञान, नित नव - नव कला !
एकसाथ हिलें-मिलें सब ,
एक डाली पर खिलें सब ;
एक 'गत' पर विश्व भर का
एक स्वर का हो गला !
गगन में हो उदित नव रवि,
भुवन में प्रमुदित नवल छवि,
विश्व भर हो चिर-किरण के
एक साँचे में ढला !

शनैः पन्थाः

धीरे - धीरे चले आ रहे !
हाँफ - हाँफ कर हम न गिरेंगे,
पग आगे देंगे, न फिरेंगे;
इसीलिए तो दौड़ न सकते,—
धीरे - धीरे चले आ रहे !
जग-जागृति का नित्य-तरुण कवि,
- ज्योति-राग गाता आता रवि,
हम वह गान प्राण में भर कर—
धीरे - धीरे चले आ रहे !
× × ×
होगा यही लोक आलोकित,
होंगे हम सब यहीं सम्मिलित;
बहुत दूर जाना न हमें, बस—
धीरे - धीरे चले आ रहे !

मिट्टी का मोह

"आ रहा है ज्वार, दूँगा तुरत नाव बहा,
जल्द हो तैयार !" —माझी है पुकार रहा !
आरहे होंगे अभी, कैसे बता दूँ, आह,
आज तक थी देखती दिन-रात जिनकी राह !
आज वे देंगे विदा, होकर उदास, निराश,
चिर-विरह यह या मिलन-क्षण? पूछकर सोच्छ्वास!
बह चलेगा अंचल नयनों से सजल हो मौन,
कुछ किसी भी भाँति मुझसे जायगा न कहा !
जल्द हो तैयार, माझी जब पुकार रहा !!

× × ×

"देख लो, कुछ छुट अरे, इस पार तो न रहा !
चल रही है नाव !"-नाविक फिर पुकार रहा !
कुछ नहीं, कुछ भी नहीं, गूँजा गगन भर स्वर
एक मैं ही मौन, मेरा कौन सा उत्तर !
नीर दृग में, तीर - सी उर में चुभोए पीर,
मैं चली, तुम शेष क्षण में भी न आए धीर !

× × ×

बन्धु नाविक, दे मुझे इस बार और उतार,
हाय ! मेरा तो सभी कुछ छुट रहा इस पार !

लक्ष्य–वेदना

मेरे पथ में न विराम रहा !
'कुछ दूर और, कुछ दूर और' करता मैं आठों याम रहा !
मेरे पथ में न विराम रहा !
पर्वत की चोटी पर बैठी चिड़िया बोली—हो, चढ़ो, चढ़ो ;
सागर की लहर पुकार उठी, 'लौटो मत, आगे बढ़ो, बढ़ो !'
मैं चढ़ा किया, मैं बढ़ा किया, हारा हिम्मत, न रुका पल भर,
यह शिखर दिखा, वह महासिन्धु, कहना ही मेरा काम रहा !
मेरे पथ में न विराम रहा !
जब नजर शिखर पर रही गड़ी, पर्वत से गिरना शान एक ;
जब लक्ष्य किनारा पाना ही, लहरों पर मरना आन एक !
सोचा करता मैं यही; मगर अन्तर मर्मर करता रह-रह ,
आनेवाले जग मे मेरा जाने क्या, कैसा नाम रहा !
मेरे पथ में न विराम रहा !

———

नव–शक्ति

नव-शक्ति मिले हे !
चिर-निरपराध नयनों के सजल-सरों में
प्रिय, सत्य सुरभिमय उज्ज्वल कमल खिले हे !
नव-शक्ति मिले हे !
ये पाप-पङ्क के अंक - पले
जो कुटिल, क्रूर कलमषी आज
द्वेषी, दम्भी, उद्धत, अशङ्क
कर रहे कलङ्कित जन - समाज
अब गिरे गाज उनपर, सुनकर
जो विवशों की कातर पुकार
दुर्दम्य गर्व - बल से पागल
हुंकार कर रहे बार-बार ,
हो न्याय सत्य की दिव्य ज्योति से, फिर से—
निर्ममतम तम का प्रस्तर-हृदय हिले हे !
नव-शक्ति मिले हे !

———— —

शेष आह्वान

हैं अभी अरमान बाकी !
आज तक जिसके निकट मैं शीश था हर दम झुकाता,
गिड़गिड़ाता, तड़फड़ाता, दर्द पहलू का बताता,
हाय ! वह तो देवता था -मूक निशि-दिन, मौन पलाँछन.
और जब बोला, यही,--'हट दूर, मुझसे कौन नाता ?'
चुप रहा जाता न फिर भी, हूक जब उठती हृदय में,
सिर झुकाए हूँ खड़ा फिर,--हैं अभी पाषाण बाकी !
है अभी अरमान बाकी !
गूँज किसकी छा गई ?—उस पार से किसने पुकारा ?
रोशनी किसने दिखाई ?--क्यों उधर टूटा सितारा ?
मैं विकल, किस भाँति तुमसे आ मिलूँ अज्ञात साथी ?
हूँ पड़ा मझधार में, है दूर कितनी वह किनारा !
भँवर - लहरें देख मैं होता निराश न, है तुम्हारा--
आखिरी आह्वान बाकी, है अभी तूफान बाकी !
हैं अभी अरमान बाकी !

मौज

सब अपनी-अपनी कहते हैं !
कोई न किसी की सुनता है,
नाहक कोई सिर धुनता है;
दिल बहलाने को चल फिर कर,-
फिर सब अपने में रहते हैं !
सब अपनी-अपनी कहते हैं !!

सब के सिर पर है भार प्रचुर
सब का हारा, बेचारा उर ;
सब ऊपर ही ऊपर हँसते,—
भीतर दुर्भर - दुख सहते हैं !
सब अपनी-अपनी कहते हैं !!

ध्रुव लक्ष्य किसी को है न मिला,
सब के पथ में है शिला, शिला;
ले जाती जिधर बहा धारा,—
सब उसी ओर चुप बहते हैं !
सब अपनी-अपनी कहते हैं !!

———

मस्ती

कुछ हो जाने में भी क्या है ?
ले-ले सौ-सौ बलि प्राणों की,
पूजती प्रतिमा पाषाणों की ;
कुछ भावुक नयनों से जग को—
यों धो जाने में भी क्या है ?
कुछ हो जाने में भी क्या है ?
टिकनेवाली न लहर होती,
सुन्दरता ? वह न अमर होती
निष्ठुर - उर - मुक्ता - हारों के—
फिर पो जाने में भी क्या है ?
कुछ हो जाने में भी क्या है ?
कब मिट पाती नव-नव आशा ?
सीमित होती कब अभिलाषा ?
जीवन की भूलभुलैयाँ में—
खुद खो जाने में भी क्या है ?
कुछ हो जाने में भी क्या है ?

निर्देश

पंथी जा उस ओर !
निरख रहा क्या नैश तिमिर पथ ?
महत् लक्ष्य का अणु, लघु ही अथ,
रोक निकट हीं स्वर्ण-वर्ण रथ—
तुझे बुलाता भोर !
पंथी जा उस ओर !
जहाँ एक आदर्श कर्म है ,
आत्म - चेतना मात्र धर्म है :
शिशिर स्वेद जिस ठौर झलकता —
वहीं छाँह का छोर !
पंथी, जा उस ओर !

———

यति - भङ्ग

[काशी में दशाश्वमेध से विश्वनाथ की गली तक और कुम्भ-मेले में दारागञ्ज से त्रिवेणी-तट तक फैले भिखमंगों,—फकीरों को मैंने आँखें फाड़-फाड़ कर देखा है । चित्रकूट में हनुमद्धारा के ऊपर परिक्रमा में पड़नेवाली. सम्भवतः 'पञ्चतीर्थ' नामक पर्वत-श्रेणि के किसी तीर्थ-विशेष की कँटीली स्मृति आज भी कलेजे का खून पानी कर देती है, जहाँ गैरिकाम्बरधारिणी एक तरुण भिक्षुकी पैसे माँगते-माँगते बदन से लिपट-चिपट गई थी

किन्तु इस रङ्ग की बात न्यारी है । इसे देखकर दया नहीं आई थी. डर लगा था । मानिकपुर जंक्शन के करीब एक छाया-हीन वृक्ष की छाया में मैंने इसे पड़ा देखा था । लोगों ने बताया था कि यह किसी से कुछ माँगता नहीं. चुपचाप आकाश की ओर आँखें गड़ाए मुँह बाए लेटा रहता है । तब न जाने क्यों मुझे जातक की एक कथा याद आ गई थी । जिसकी प्रतिच्छाया प्रस्तुत रचना है ।

यति-भङ्ग-भरा 'कनक-मञ्जरी'—छन्द काव्य-गत घटना की ओर इङ्गित करता है ..]

पी मदिरा विदा ली उसी दिवस
शिशिर ने नए वर्ष के लिए .
नव वसन्त के नए स्पर्श से
सकल लोक के हर्ष के लिए ।
प्रात - राग था भूमि - व्योम को
व्याप्त कर रहा ताल-ताल पर .

लाल - लाल थे फूल झूलते
हरित रस-भरित डाल-डाल पर।
पक्षि - पुञ्ज थे चहचहा रहे
निविड़ नीड़ से मुह निकाल कर,
याद कर गए रैन - स्वप्न की
बात, थे रहे मन निहाल कर।
गलित कुष्ठ से दलित - देह था
गेह - हीन भिक्षुक पड़ा हुआ—
एक पेड़ के पास, घास पर,
निःसहाय, ज्यों शव सड़ा हुआ!
आसपास वातावरण वह
का भरा हुआ पूति - गन्ध से,
थे सुगन्ध स होड़ कर रहे
फूल भूल वह गन्ध, अन्ध - से।
वह हताश कंगाल, काय कंकाल,
श्वास - से हीन - सा हुआ,
भृकुटि बंक, दृग युग सशङ्क,
चिन्ता-वितान में लान-सा हुआ।
सोचता यहाः—"ज़िंदगी गई
चीख़ - चीख़ कर भीख माँगते,
दुःख - दैन्य के करुण शब्द सब
सीख - सीख कर, भीख माँगते;
हाय दैव! करता सदैव मैं
रहा—'भूख औ' प्यास' आज तक,

एक भी नहीं पूर्ण कर सका
और आस-अभिलाष आज तक,
माँगता रहा दान नित्य,
पर कर सका नहीं दान आज तक,
आत्म - दान से मैं जुड़ा सका
एक प्राण भी हा ! न आज तक !
दान माँगते हुए जन्म भर
सब प्रकार के दुख मुझे मिले,
वह न एक भी क्षण कभी मिला
जब कि दान का सुख मुझे मिले !
कौन मान सकता,—कभी भला
रंक भी किया दान चाहता,
कौन जान सकता कि वह इसी
भाव से दिया प्राण चाहता।"
बंद हो गईं मन्द - मन्द
आँखें यही करुण सुख विचारते,
चू पड़े शिशिर - बिन्दु प्रात के
शून्य व्योम से, पलक मारते।
थी सजल विदा ली उसी समय,
शिशिर ने नए वर्ष के लिए,
नव वसन्त के नए स्पर्श से
सकल-लोक के हर्ष के लिए।

रमना '४१

कपोत-कपोती

[कालिदास के भाव एवं राम-कृष्ण परमहंस के प्रभाव से मेरा मन सदा-सर्वदा श्रेय-प्रेय के पालने पर पैंगें भरता रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे जीवन में कभी राग-विराग का समन्वय न होगा। साथ ही, जितनी दूर तक मैंने अपने आपको पहचाना है शत शत प्रयत्नों के पश्चात भी एक के लिए दूसरे को एकबार ही भूल जाना मेरे लिए असम्भव है। सो मैं अकारण ही उदास-हताश हो अपने ढीले-ढाले ढाँचे की हड्डियां छिपा विश्व की मांसल सुषमा निरखने निकल पड़ा था।

अगहन की साँझ थी। सूरज अभी डूबा न था। मैं यामिनी बाबू के बंगले के करीब से कतराने वाली तंग गली पार कर रहा था। मनोरमा घुटनों तक लहराते अपने स्निग्ध-श्यामल कुन्तल-कलाप और चाँद को चुनौती देनेवाले मुखड़े को अपनी उतनी बड़ी-बड़ी आँखों से भी न देख सकने के कारण सिर पर ताड़ी की उतनी गगरी लिए, यौवन और गागर का भार सन्तुलित कर मत्त-गयन्द-छन्द-सी लचती प्रगतिशील साहित्य की नायिकाओं की तरफ़ नज़र किए खड़ी थी। बंगले की छतरी से उड़ उड़ कर उसके रंग बिरंगे कबूतर डैनों की फड़फड़ाहट और "घूटर घूँ" के प्रिय कलरव से वायुमण्डल को आन्दोलित कर रहे थे। तभी (पँचरंगी चुनरी; बेड़ियों-जैसे कड़े; पचास-साठ लहठियाँ; नाक से जूड़े तक फैली दशहरे की बलि-वेदी-सी लाल सिन्दूर की सड़क; आँखों से भी अधिक गालों को भादों का आकाश बनाए काजल की

चौड़ी-चौड़ी लकीरें; कुसुम्भ की कँटीली पंखड़ियों से उलझी तितली-सी तड़फड़ाती टिकली)—अपनी प्यारी पत्नी का गौना लेकर, (गुलाबी धोती; चितकबरा साफा, मोटा सोंटा, कबूतर की छतरी-सा 'छितराया' छाता, पालिश-शुदा बूट- सा चमकता बदन,) - एक भोला-भाला युवक उसी रास्ते से गुज़रा। वह देखता था कि उसकी 'सुहागिन' उसे ही फिर-फिर न देख कभी ललचाई आँखों से महल की ऊँचाई देखती, और कभी मनोरमा की 'मुख-सरोज-मकरन्द-छबि' का मधुप इव पान' कर रही थी। और, देखते ही देखते वे दोनों नजर से ओझल हो गए। मैं मजल कल्पना में खोया-खोया रास्ते की उड़ती धूल झाड़ता रह गया।

तब से आजतक कितनी ही बार मन्नो की मालती की बेल 'खिल-खिल' कर मुझे उस ओर बुला चुकी; कितनी ही बार छतरी से उड़-उड़, मेरे कन्धों पर सुई की नोक-से चोंचे नाखून चुभो-चुभो, उसके कपोत-पोत अपना अनुराग-राग प्रदर्शित कर चुके; किन्तु प्रेम के रेशमी धागे, नहीं नहीं पटुए की मोटी रस्सी से कसे वैसे ग्राम्य-दम्पती (कपोत-कपोती) मुझे फिर कभी न दिखे! ··· ·· ·]

होते कहीं कपोत - कपोती!
मैं तिनके चुन नीड़ बनाता,
तू पाँखें फैलाकर सोती'
राज - सदन के पास घास पर बिखरे दाने देख,
तेरा हृदय मचलता मुख पर खिंचती तृष्णा - रेख,
मैं कहता,—"जा नीड़ लौट जा जग छल-छिद्र-भरा,
बिना स्वार्थ के यहाँ एक भी कण न कहीं बिखरा;
तेरे लिए लिए आता हूँ मैं कुछ दाने खोज,
चला करेंगे वन हम - दोनों साथ - साथ हर रोज,

हरदम पास - पास रहने की
यदि तू नित कामना सँजोती !
हम सखि, आज कपोत-कपोती !!

× × ×

फिर तू किसी दिवस हठ करती,-"अब न सुहाता है वन,
राज - सदन के दाने चुगती, ऐसा ही कहता मन ।"
कितना भी समझाता, पर तू एक न मेरी सुनती,
लुक-छुप कर मेरी आँखों से मीठे दाने चुनती !
तभी पकड़ लेता झट तुझको हँस कर राजकुमार ,
ले जाता अन्तःपुर, दरसा रसमय प्यार, दुलार ,
बतला, उस क्षण भी क्या आती-
मेरी याद तुझे ? - तू रोती ?
कहाँ कपोत कि कहाँ कपोती !!

रमना '४२

जग और युग

कवीन्द्र रवीन्द्र के प्रथम दर्शन के समय मैं हिन्दी में तुकबंदी करना भी नहीं जानता था; किन्तु उनकी अनेकानेक बंगला और अंग्रेज़ी कविताओं का संस्कृत अनुवाद कर चुका था। 'Clouds heap upon clouds and it darkens' को 'जलधरावलिरावलिता' और 'रात्रे ओ प्रभाते' को 'विभावर्यां प्रभाते च' के रूप में उन्हीं दिनों प्रकाशित करा चुका था। और, इधर लगभग तीस बरस की उम्र से जब मैं विशेष रूप से हिन्दी में ही लिखने लगा, उनके दर्शन सर्वदा के लिए दुर्लभ हो गए। उन्हें देख कर अपनी संस्कृति का गौरव-बोध होता था; संस्कृत भारती की उपासना में बिताए हुए दिन धन्य प्रतीत होते थे। किन्तु अब "संगच्छध्वं संवदध्वं" के ऋषियों का स्थान रूसो समाजवाद के आधार पर निर्मित भारतीय लाल-सेना ग्रहण करने जा रही है। वेणु-वीणा की अपेक्षा ढोल-सींगे की माँग बढ़ रही है। अब भारतीय साहित्य का रंग उज्ज्वल नहीं, रक्त होगा। राजनीति की उपेक्षा कर जीवन मृत्यु बन जायगा। कवि क्रान्त-दर्शी होने की अपेक्षा 'न्यूज़ पेपर' का नियमित पाठक होना अधिक पसंद करेगा।.....

क्रम-हीन विचारों का ऐसा बवंडर ही प्रस्तुत कविता की पार्श्व-भूमि है। जैसे हारा हुआ हृदय अतीत के साथ वर्तमान का समझौता करा रहा हो!]

जग दीपक, युग जलती बाती!
स्नेह-भरा अन्तर दीपक का,
बाती विहँस जुड़ाती छाती!
उदर जगत, युग भूख-प्यास है,
जग जीवन, युग अश्रु-हास है,
मिट्टी के,—जग के दीपक में—
तुनुक रुई की,—युग की बाती!

जग कानन, युग ऋतु - परिवर्तन ,
रंग-मञ्च जग, युग नव नर्तन ,
जग-जननी निज स्वच्छ प्रकृति री
युग का वसन बदलती जाती !
जगत सिन्धु, युग भँवर - लहर है ,
जगत मौन, युग प्रखर - मुखर है ,
युग पीपल का हरित चपल दल ,
जग बरगद की छाँह लुभाती !
जग कविता, युग कालिदास है ,
मेघदूत जग, युग उसाँस है ,
जग है रस, अनुभाव - भाव युग ,
जग विरही, युग नव - नव पाँती !
जग है भाग्य और युग उद्यम ,
पुरस्कार जग, युग समुचित श्रम ,
शस्य-राशि-श्यामल, पिच्छिल-छवि
जगत् क्षेत्र, युग घन बरसाती !
युग प्रतिमा, जग सुन्दर मन्दिर ,
मलय जगत, समीर युग झिर-झिर
जग - वीणा के तार गुँजाती
युग - देवा नव गायन गाती !
जग जगता, युग जगी जगाता ,
जग जीता, युग अमृत पिलाता ,
जग-दीपक का वदन मलिन हो ,
बुझे हाय ! जो युग की बाती !

रमना '४२

तिमिर - पर्व

दीप जलाए, खूब सवेरा है मजार को !
दीप सजाए, खूब लजाया अन्धकार को !!
मरने ही के लिए जिए कीड़े कि मकोड़े,
खूब लगाए इन पर घी के चुपड़े कोड़े !
मिट्टी नहीं हुई, मत हो; नभ तो आलोकित !
यहीं कम हुआ हवा हो गई अहा ! सुगन्धित !!
नई हो गई पुनः पुरानी अपनी रीरकृति,
छायापथ - सी नई बन गई ज्योतिमय सृति !
गाड़ा लौ है पकड़ ज्योति की, शुभ निदान है,
आसमान में तभी हो रहा कीर्ति - गान है !
ज्योति जगाई है विनोद तो नहीं किया है !
कहता हूँ, लो इस मजार का दिया-दिया है !!

× ×

खिचता जाता तेज, तिमिर तनता; क्या फेरा !
हरे सवेरा भी होगा या सदा अँधेरा ?
रहे अँधेरा ये समाधियाँ दिख जाएँगी,—
घास-पात पर शबनम से कुछ लिख जाएँगी !

कभी पढ़ेंगे लोग,- न सब दिन अपढ़ रहेंगे .
कभी कहेंगे. मूक व्यथा सब दिन न सहेंगे !
—"अन्धकार का तना चँदोवा था इस भू पर ,
दीप उजलते, जलते थे बस ऊपर-ऊपर !
जीवित जले हुए 'कीड़ों' की ये समाधियाँ .
दीप जलाना मना, यहाँ उठती न आँधियाँ !"

× × ×

दीप जलाना अगर बहाना, इधर न आना !
दीप दिखा कर अन्धकार को क्या चमकाना !!

Black out
'४२ की दीवाली

चाँदनी

दोपहर भर चिलचिलाती धूप में तप कर, झुलस कर,
अथक श्रम कर थक गया हूँ,
इसलिए यह चाँदनी उन्मादनी लगती मुझे है!
काम दिन का मैं सुबह से शाम तक सब
कर चुका पूरा लगा जी,
इसलिए राका शरद की भा रही, मन-प्राण को भरमा रही,
है छा रही अस्तित्व पर मेरे, मुझे घेरे,
कि मैं हूँ मुक्त, मैं स्वच्छन्द इस बेला
अकेला तट-निकट बैठा,
अवनि - अम्बर रजत - पट पर
निरखता निष्कपट मन से, मगन हो कर!
साथियों सहकर्मियों के साथ तन - मन से जुड़ा था,
क्षुद्र, लघु तन व्यष्टि का कण हिल रहा था
मिल समष्टि - समुद्र से!
व्यक्ति का विश्लेष था संश्लिष्ट होता, शिष्ट होता स्थिर इकाई में
सुदृढ़ आधार, सामाजिक सबलता पा,
कि कोरी कल्पना बौद्धिक
बने अनुभूति जीवन की सहज, हार्दिक!
इसीसे इस घड़ी ज्योत्स्ना जयोत्सव-मूर्त्ति-सी नव,
पूर्त्ति-सी भव की दरारों की,
कगारों पर खड़ी अन्वित - सदृश
तलवार की खर धार कुण्ठित कर रही,
साकार निश्छल प्यार - सी मन में गड़ी है!

'४७

शिप्रा

[और, तब दूसरी बार 'अवन्तिका' का आरम्भ यों हुआ : —

ज्योतिःपुञ्ज कुञ्ज में निरन्तर विहार किया,
प्यार किया फिर अनल्प कल्पद्रुम - छाया को,
धूप - छाँह स्वर्ग - अपवर्ग की अतुल होगी!
प्रतिभा प्रगल्भ होती कल्पना अनन्त में;
स्वर्ण-नील, किंवा, मेघ - मेदुर दिगन्त में!

आज तू उतरती, पर, धरती पर चाह रहा,
थाह रहा विश्व - सिन्धु-लोडित-जल तल को,
सृष्टि की सौरभित के रूप रस, गन्ध को!

द्वन्द्व-ग्रस्त वैसे तो समस्त जीव-लोक, किन्तु—
शोक घन में भी है अशोक - वन फूलता!
भूख - प्यास—अथवा —दवाग्नि-उनचास-पवन—
कौतुकमय मानव - मन क्षण भर भूलता!'

आया आषाढ़, गाढ़ - श्यामल आकाश अहा!
प्यासी पृथ्वी के पास - पास झुका आ रहा;
तारक - गण-गणित-तरङ्गा लो, गगन-गङ्गा—
सूख गई, रश्मि - राशि - पुलिन ढहा - बहा!

बात रात भर में ही कितनी बदल गई!
शिप्रा का धीर नीर तीर छापने लगा!!·····

बस, 'अवन्तिका' पार्श्व - भूमि में पड़ गई और शिप्रा' तीर छाप कर छलक लगी·····

गङ्गा के बीच स, बीचियों को बुल्लों की तरह गुलाला बनाती मेरी ना

बही जा रही है। वृद्ध धीवर कर्णधार के स्वर में, किनारे की ओर से खेने के लिए मुझ से सम्मति माँग रहा है। अन्धकार उज्ज्वल जलधार को काला सागर बनाए है। तट का आलोक रक्ताक्त मुँह खोल मेरे अन्तर के प्रच्छन्न तिमिर को भी निगल जाना चाह रहा है, लेकिन मैं हूँ कि किनारा नहीं चाह रहा; मझधार के अन्धकार में ठण्ड से सिकुड़ा जा रहा हूँ; किन्तु चिता की लपटों से बदन सेंकना नहीं चाह रहा।

मुँह से 'गङ्गा-लहरी' निकल रही है; भीतर गङ्गा की लहरों को सहेज रहा हूँ, और यह कविता·····]

(१)

गोरे मेघ, दूत बन जाओ कालिदास के देश,
कहना श्रुति-महती सरस्वती' का इतना सन्देश :
प्यारे, तुम नन्दन-वन में बस भूल गए निज लोक,
जहाँ मिलन-क्षण में विरहातुर होते कोकी-कोक !
एक झकोरा मलयानिल का देता लगा अनल है,
प्यासे रहते प्राण, नयन से बहता जल छल-छल है।
कुसुम-चषक में प्रिया-सङ्ग हा मधु पीता है भृङ्ग,
परस - निमीलित-दृगों मृगों को सहलाता मृग-शृङ्ग;
सुन्दरियों के 'आसिञ्जित-नूपुर' -चरणों से मञ्जुल—
दिशाकाश-व्यापी विकास को व्याकुल रहता बञ्जुल !
मुख-मदिरा पी मौलसिरी मुकुलों, सुमनों से भरती,
तरु-गुल्मों की रसिक-हृदयता मुनियों का मन हरती !
जहाँ प्रेम - धारा जीवन के सुख दुख के कूलों को—
प्लावित करती, क्षमाऽऽवर्त्त से ढक लेती भूलों को !

प्रात विदेश पधारे पति के लिए जहाँ की नारी
तनु-तनु तुनुक-तूल हो जाती, लगता जीवन भारी !
'गृहिणी, सचिव, सखी, प्रिय-शिष्या'—पत्नी परी नहीं है,
रम्भा-रसिक, विचारो तो वह क्योंकर मरी नहीं है !
कर में लीला-कमल, अलक में झलक कुन्द-कलियों की,
लोध्र-पराग-राग-रञ्जित मुख, वेणि,—श्रेणि अलियों की,—
नए स्तवक-कुरवक-से दोलित, कर्ण शिरीष सुशोभित,
प्रिय कदम्ब सीमन्त-घटा पर लहराता हो लोभित!
सुरभि-भरी रंगीन साड़ियाँ, उफनाता मधु मादक,
किसलय-निलय,—तरङ्ग-भङ्गिमय अङ्ग, अनङ्ग-प्रसाधक!
ललित अलक्तक चरण-चरण की सुषमा का सम्भार,
एक कल्प-तरु जहाँ कोटि कामिनियों का शृङ्गार !
ठण्डी - ठण्डी हवा, लिए हल्के-हल्के जल के कण,
पारिजात की छाँह, प्रिया की बाँह गले में रस-घन,
सोने की सिकता में रत्न छुपाने - जैसी क्रीड़ा,
कैसे आए याद तुम्हें तब निर्मम, मेरी पीड़ा !

(२)

मेघ, दूत बन जाओ मेरे कालिदास के देश,
कहना हतभागी कविता का इतना ही सन्देश :—
मुझे मर्त्य के लिए छोड़ कैसे तुम स्वर्ग सिधारे ?
मैं मनमारे तारे गिनती, तोड़ रहे तुम तारे !
युग - सहस्र वर्षों से बैठी करती रही प्रतीक्षा,
मेरी मुई अमरता की तुम लेते निठुर परीक्षा !

कहाँ स्वर्ग से बढ़ कर सुन्दर धरणि बनाने का व्रत,
और कहाँ तुम क्रान्ति वहाँ की देख हुए प्रतिभा-हत '
अनासक्त कवि, भोग - कामना से भूले निर्माण ;
देख शान्ति की रचना भूले रचना का निर्वाण !
पुण्यार्जित पा लोक गए तुम जन्मभूमि को भूल
सौन्दर्य्योपासक, सुन्दरता की उड़ती तब धूल
भीगीं, चिपकीं पाँखें मधु में, मधुकर-गुञ्जन बन्द,
तभी सभी कुसुमित कानन में मधु का उत्सव मन्द !
अनाघ्रात क्यों पुष्प रहें, जब तुम्हें सुरभि से प्यार !
रत्न न कैसे बिँध, चाहिए तुम्हें हार - शृङ्गार !
किन्तु सुनो, सुख - स्वर्ग से नहीं मुझे रंच भी वैर,
सुर - उर - चन्दन नन्दन-वन की सौरभ-भीनी सैर !
सखे, मुझे तो आज तुम्हारी जन्म-भूमि का ताप,
चक्र-नेमि-क्रम दशा-विपर्यय, हुआ हाय ! वर शाप !
आज राम-गिरि के आश्रम की चौड़ी छाती चीर
धूम्र-यान चलते, उसाँस-सी बहती उष्ण समीर !
पङ्क-शेष सर, सरि सिकतामय, कूल बबूल-हरे हैं,
पाण्डु-वदन षोड़शियाँ, पनघट श्वापद-चिह्न-भरे हैं !
मानव के मानस के रस का स्रोत गया है सूख,
भाव "पिपासा-श्याम-कण्ठ" है, भाषा जलती भूख !
गया शील, शालीनता गई, हृदय स्वार्थ से अन्ध ;
प्रेम बना व्यवहार, कला दुःखान्त, यौन सम्बन्ध !
बैठ हिय में हूक उठाती अब न पिकी की कूक,
'अमिय-हलाहल' रहा न विधु में, मधुकर-शर न अचूक !

परिधसर-युग वसना बाँधे एक वेणि मोच्छ्वास,
दीर्घ विरह-व्रत पालन करती कौन मिलन की आस!
द्रुत-गति से चल रहा उर्वशी के अन्वेषण का क्रम,
पर पुरूरवा का न गगन-धन-भेदी कहा पराक्रम!
पहुँच गया दुष्यन्त स्वर्ग जिस पावन परम प्रणय से,
मानव आज घृणा करता सुत-सन्ततिमय परिणय से!
प्रेम हुआ पर्य्याय पाप का, पुण्य साधना स्वार्थ
मधुशाला - आलाप आज चिन्तन करना परमार्थ!
भूति-राशि में सत्य अनल-कण-सा है गया छिपाया,
गल-हसित शिव, विश्व-विजयिनी केवल सुन्दर माया!
यन्त्र चेतना - मन्त्र फूँकते, मानव जड़-सा सुनता,
क्या परतन्त्र तन्त्र पशुता का! नर फिर-फिर सिर धुनता!
सब कुछ सुलभ हुआ जड़-युग में, मूल्य का न कुछ मान,
दुर्लभ सखे, तुम्हारा केवल प्राण - विमोहन गान!
रक्त-पिपासा! मानव प्यासा मानव के शोणित का
वृद्ध-धरित्री-भोग रोग; औषध जन-यौवन-हित का!
आज वज्र-गर्जन में बजती अमन - चैन की वंशी,
बक-बकियों का पक्ष प्रबल, उड़ गए हंस औ' हंसी!
बादल में बिजली क्या, पानी में धधकी है आग,
झन्झा के झोंकों में जलता स्नेह - विहीन चिराग!
बक शक्र-धनु तना, अवनि का थर-थर जर्जर गात,
बरस रही हैं लाल-लाल बूंदें, कैसी बरसात!
निरपराध सिर काट, रक्त के अश्रु बहाती आँख है,
लिखे विश्व इतिहास नया, प्रस्तुत वैज्ञानिक मसि है!

स्वर्ण - प्रसू - भू - कृषक रो रहे हैं दाने-दाने को ,
श्रमिक नारियाँ देह दिखातीं देह छिपा पाने को !
युवती माँ की सूखी छाती चूस शान्त शिशु होता ,
देती फाड़ कलेजा धरती, आसमान है रोता !
ढूँढ़ निकालो सुषमा, कवि ओ आद्य सृष्टि के स्रष्टा ,
देखो अपनी मातृ-भूमि की दशा, क्रान्त के द्रष्टा !!
उतरो भू पर, ऊपर है क्या ? हृदय-हीन वह व्योम ,
जननी जन्म-भूमि की लज्जा दिखलाते रवि-सोम !!
ठुकरा दो, जो मत्त बनाती तुम्हें स्वर्ग की हाला ,
पिओ शैव कवि, लिए खड़ी मैं हालाहल का प्याला !
अक्षर-ब्रह्म , विश्व व्याकुल है, ग्रहण करो अवतार ,
श्यामा माँ के वक्षः-स्थल में नवल दुग्ध सञ्चार !
आओ, दिङ्मण्डल प्रसन्न हों, शीतल, मन्द, सुगन्ध–
रह-रह बहे समीरण फिर-फिर सदानन्द, स्वच्छन्द !
दैवी औ' मानुषी आपदाएँ टल जायँ अनन्त ,
तुम आओ, उजड़े उपवन में आए अमर वसन्त !
द्वेष-दम्भ से भुलसे प्राणों को दो प्रेमल गान ,
दुःख - दैन्य - जर्जर शरीर को अक्षय यौवन दान !
"बरौ शम्भु नतु रहौ कुमारी ' रचो सती-सी नारी ,
शिशु, मृगेन्द्र के दन्त-परीक्षक, निर्भय-पद-सञ्चारी !
रघु-सा धीर, राम-सा धन्वी, सिरजो सुर -सेनानी ,
सुन जिनकी हुङ्कार विनत हो असुर महा-अभिमानी !
पर-उपकार, त्याग-हित-निश्चित नितप्रति सम्भृत वित्त,
क्षार करो आवेश, वासना, तपःपूत हो चित्त !

नियति-नियम से परे अरे, तुम नित्य अनागत-गत में,
स्वर भरते हो नित्य-नित्य नव-नवल अनाहत 'गत' में!
हो विभेद क्यों, स्वर्ग-धरित्री गले मिले सानन्द,
रचो-रचो कवि, एक बार फिर मन्दाक्रान्ता छन्द!

आओ, तुम्हें पुकार रही है भूमि तुम्हारी प्यारी,
हेम-तप, रो-धो काँप-ठिठुर पड़ ऋतुएँ बारी-बारी!
पुच्छ-पुच्छ फैला मयूर नाचे पुलकित-चित-गात,
तुम आओ फिर उमड़-घुमड़ बरसे सरसे बरसात!

हरे खेत खलिहान भरे, छेड़ें किसान-गण तान,
तुम आओ, आ जाय हाय! सूखी मिट्टी में जान!
आओ, तुम्हें पुकार रहा है विपद-दलित यह देश,
सब लुटने पर भी जिसके उर सुमधुर आशा शेष!

युद्ध - हताहत - विश्व - प्राण अपनाएँ प्रीत पुरानी,
तुम आओ, पंडित मानवता पाए मार्मिक वाणी!
एक वेणु पतली धारा से, पतित पत्र से पीली,
अपलक निर्विन्ध्या निहारती, चितवन गीली-गीली!

हिम से मंद-मलिन नलिनी, मुह बंद किए रसवंती—
करुणा कटाक्षों से आमन्त्रित करती तुम्हें अवन्ती!
चिकुर-निकर - संस्कार-धूप-धूमिल-सौरभ प्रासाद-
बँधी हिचकियों से पुकारते, ममोन्तक अवसाद!

आओ शैव महाकवि, देखो त्रिभुवन-गुरु का धाम,
गंधवती-जल नयन-अनल से आविल, अब विधि वाम!
पीले पत्तों के स्वर से कहते है प्रिय उद्यान—
हाय, भक्त कवि, बन बैठे तुम आज स्वयं भगवान!

बर्र और चमगादड़ से बिँध महाकाल का मन्दिर,
स्वप्न-सांध्य-आराधन के क्षण उन्मन होता फिर-फिर !
पारावत क्या, कौशिक का घृत्कार, क्रोष्टु-क्रंकार,
आज 'तुम्हारे महाकाल' की पूजा का सम्भार !
इसी दैन्य, दारिद्र्य, अकिञ्चनता के बीच पधारो;
दिव्यकरों से महाकाल - नीराजन - थाल सँवारो !

अपनी संस्कृति,—सुर-दुर्लभ मानवता का दृढ़ मूल,
जब तक सब के सब न सके हैं एक बार ही भूल !
वर्ण और आश्रम युग-आहत शत-शत सह उपहास
बन पाए जब तक न विदेशी लेखक का इतिहास !
कहलाती जो रही मही-तल की पीयूष-झरी है,
शान्तं पापम् , अमर-भारती जब तक नहीं मरी है !

आओ तभी,—अभी ही, ले सुख-शान्ति-सनेह-सुगंध,
स्वर्गङ्गा से तृप्त, तुम्हें है शिप्रा की सौगन्ध !

विक्रम की द्विसहस्राब्दि

'पण्डित होइ सो हाट न चढ़ा, चहौं बिकाय, भूलि गा पढ़ा !

× × ×

जौ लहि गुन परगट नहिं होई, तौ लहि मरम न जानै कोई !'

—जायसी

शिप्रा (प्रथम संस्करण) पर कुछ समीक्षात्मक टिप्पणियाँ

समीक्षक :—

१—आचार्य्य श्री हजारी प्रसाद जी द्विवेदी (विश्वभारती)
२—कविवर दिनकर (हिमालय)
३—प्रोफेसर रामखेलावन पाण्डेय (पारिजात)
४—पण्डित परमानन्द शर्मा (साधना, रूपवाणी)
५—सुश्री कृष्णाकुमारी सरीन (नया समाज)
६—श्री किरण (ज्योत्स्ना)

(१)

विश्वभारती पत्रिका, शान्ति-निकेतन, एप्रिल-जून '४७

आधुनिक हिन्दी कविता में गीति काव्यों की कमी नहीं है। अनेक प्रतिभाशाली कवियों ने मधुर और मादक गानों की रचना की है; किन्तु पं० श्री जानकीवल्लभ शास्त्री के समान सुदृढ़ साहित्यिक आधार और विशाल सांस्कृतिक परम्परा बिरले ही को प्राप्त होगी। शास्त्री जी संस्कृत के मार्मिक विद्वान हैं। उनकी सहृदयता विद्या की आँच से सूख नहीं गयी है, बल्कि और भी द्रवित होकर प्रकट हुई है।

'शिप्रा' में कवि ने प्रायः सभी कविताओं के आरम्भ में छोटी-छोटी भूमिकाएँ दी हैं जो काव्य की प्रेरणावाली वाह्य और आन्तर स्थितिओं का परिचय देती हैं। शायद ही कोई सहृदय इस प्रकार की भूमिकाओं को पसन्द करे क्योंकि काव्य को हम कवि के व्यक्तिगत सुख-दुख की अनुभूति के घेरे से बाहर निकलने पर ही अपना पाते हैं। फिर भी इन भूमिकाओं से इतना तो स्पष्ट है कि कवि जीवन के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध को काव्य का प्रधान प्रेरक तत्त्व मानता है। उसकी दृष्टि में काव्य केवल कल्पना-विलास नहीं है, वह जीवन को मथकर निकाला हुआ सार है। यह जो जीवन के साथ प्रत्यक्ष और निविड़ सम्बन्ध है वही इन कविताओं की जान है। शास्त्री जी की विद्वत्ता उसको मण्डित करती रहती है।

कालिदास कवि के प्राणों में रमे हुए हैं। जिसके चित्त में कालिदास व्याप्त नहीं हुए उसने संस्कृत पढ़ के भार ही वहन किया। जानकीवल्लभ जी की सहृदयता का बड़ा सबूत यह है कि कालिदास उनके चित्त में व्याप्त हैं।

'शिप्रा' नामक अन्तिम कविता उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की भी परिचायक है और आधुनिक समस्याओं में प्रवेश करने की शक्ति का भी निदर्शक है।

'निराला' के प्रति उनका श्रद्धा निवेदन बड़ा भव्य है।

'शिप्रा' हिन्दी-साहित्य में स्वागतयोग्य काव्य-ग्रन्थ है।

—हजारीप्रसाद द्विवेद

(२)

हिमालय (पटना) तृतीय पुस्तक २००३

.....प्रत्येक रचना के पहले उस घटना अथवा मनोदशा का गद्य चित्र है जिसके कारण उसका निर्माण हुआ है। ये गद्यात्मक टिप्पणियाँ कविता को सहारा देने के लिए नहीं, बल्कि इसलिए लिखी गई हैं कि कविताओं के पीछे अस्पष्ट रहनेवाली मनःस्थिति कुछ साफ होकर पाठकों पर प्रकट हो जाय। इन टिप्पणियों की भाषा में सर्वत्र ही कवि के गद्य का आनन्द आता है और कहीं-कहीं वे कविताओं की तरह ही सरस और आनन्दपूर्ण हैं

जानकीवल्लभ जी कोमल भावनाओं के कवि हैं। उनके नाम के साथ बड़ी-बड़ी पदवियाँ देख कर ऐसा भय होता है कि या मनुष्य वेदान्त बघारता होगा; लेकिन कविताओं में वह केवल मनुष्य हो कर आते हैं। यहाँ तक कि भाषा के विषय में भी वह संस्कृतज्ञ पण्डित की अपेक्षा साधारण मनुष्य ही अधिक हैं।

शिप्रा की भाषा, दो-एक रचनाओं को छोड़ कर, सरल तथा सुगमता से भावों को वहन करने वाली है और इसमें हिन्दी को अपनी विशिष्टताएँ प्रकट करने का भी अवसर मिला है।

छन्द की दृष्टि से इसमें कई नूतन प्रयोग हैं।

'चाँदनी' कविता में उर्दू-बहरों को पचाने का प्रयास है तथा

'छन्द और उपगुप्त' नामक रचना स्वतन्त्र छन्द में रची गई है। इस स्वतन्त्र छन्द में मनहरण का खण्डित रूप है जो प्रवाह की दृष्टि से पूरा आनन्द देता है। कहीं-कहीं मनहरण का पूरा चरण स्वयमेव आ उपस्थित हुआ है।

'निराला' नाम्नी कविता निराला जी के 'तुलसीदास' वाले छन्द में लिखी गई है तथा भाषा, भाव और प्रवाह की दृष्टि से यह बड़ी ही सफल रचना है।

'यति-भंग' नाम्नी कविता, कवि के अनुसार 'कनक-मञ्जरी' छन्द में रची गई है जो सर्वथा नवीन प्रयोग है तथा जिसमें कवि को अच्छी सफलता भी मिली है।

किन्तु कवि की प्रधान गति गीतों की ओर है और 'शिप्रा' के कितने ही गीत भाव, भाषा, लय और प्रवाह की दृष्टि से सफल कहे जायँगे।

'बाँसुरी' के सिवा हमें 'बिखरे मोती' के गीत भी बहुत पसन्द आए। 'बिखरे मोती' के अन्तर्गत—

'आ रहा है ज्वार, दूंगा तुरत नाव बहा' वाली रचना बहुत ही सुन्दर हुई है।

पुस्तक की सर्वश्रेष्ठ रचना सम्भवतः 'शिप्रा' है। इस कविता में कवि की वह मनोदशा व्यञ्जित हुई है जो कदाचित् आज के कर्म-सङ्कुल वैज्ञानिक युग की तुलना कालिदास के साहित्य-सङ्गीत-सम्पन्न समय से करने के कारण उत्पन्न हुई थी।

—'दिनकर'

---

(३)

पारिजात (पटना) जनवरी '४८

'शिप्रा' में कोमल-कण्ठ कवि आचार्य्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्री की कविताएँ संगृहीत हैं। 'शिप्रा' की प्रखर धारा के साथ 'चाँदनी में 'वाँसुरी'-निःसृत 'ध्रुवपद' है और 'निशि भर मोती-माल पिरोऊँ के साथ 'यति-भङ्ग' भी।

कविताओं के प्रारम्भ में कवि ने उस भूमिका की व्याख्या की है जिसमें उसे प्रत्येक कविता की प्रेरणा को उन्मेष मिला। इन व्याख्याओं में काव्य का-सा माधुर्य और कोमलता, सौष्ठव और चमत्कार है। अनेक स्थलों पर गद्यकाव्य-सा आनन्द मिलता है। इन व्याख्याओं द्वारा कवि की उस अन्तश्चेतना के दर्शन होते हैं, जो उसके काव्यगत व्यक्तित्व का मूल है।

जीवन के हास-अश्रु, आशा-निराशा, उन्माद-उल्लास, गीति-काव्य में मुखरित हो उठते हैं। गीतिकाव्य उन बिखरे क्षणों की पहचान है, जो हमारे अन्तरतम के तारों को अपने कोमल-परुष पर्श से झंकृत कर देते हैं और जो जीवन को निर्मम अभ्यासमात्र हीं बनने देते।

शास्त्री जी के गीतिकाव्य में उनके व्यक्तित्व की करुण-मधुर अभिव्यञ्जना है जो संगीत की आत्मा और रस से मुखरित है, जिसकी रागिनी में प्राणों की वेदना है और आत्मा में रागानुभूति का भावावेश।

—रामखेलावन पाण्डेय

---

(४)

साधना (कलकत्ता) चैत '२००५

शास्त्री जी की कविताओं में सङ्गीत की मात्रा इतनी अधिक

रहती हैं कि मैंने देखा है, पाठक केवल स्वर-लहरी से, भावों की तह तक पहुँचने लग जाते हैं।

शब्दों का प्रयोग प्रायः सरल होता है; लेकिन भाव गहरे होते हैं, इसलिए जो लोग मनोयोग पूर्वक कविताओं पर ध्यान नहीं देंगे, वे कविता का मर्म निर्वाह के साथ नहीं समझ सकेंगे, लेकिन ज़रा ध्यान देते ही सारा राज़ खुल जाता है और आनन्द की लोकोत्तर प्राप्ति होती है। और, कहीं आलङ्कारिक प्रयोग संस्कृत की कोमल कान्त पदावली के साथ इतने सुष्ठु होते हैं कि भाषा और भावों का सौन्दर्य्य काव्योत्कर्ष की इकाई बन जाता है।

एक बात और है, शास्त्री जी ने वेदान्त के अध्ययन और मनन द्वारा जगत-व्यवहार को दर्शन के साथ ऐसा घुला-मिला दिया है कि उनकी कविताएँ जीवन की पूर्णता को अभिव्यक्त करने में सम्पूर्णतः समर्थ होती हैं।

भावों की तलस्पर्शी पहुँच रखने वाले इने-गिने कवियों में शास्त्री जी का निराला स्थान है।

शास्त्री जी का जीवन ही काव्य है—एक करुण-काव्य। शास्त्री जी को जिन्होंने देखा है, वे उनकी कविताओं को अधिक समझ सकेंगे। उनके समस्त शरीर में दार्शनिकता और कवित्व का अपूर्व योग है। उन उलझी हुई रेखाओं को जितने मनोयोग से देखेंगे, उनकी कविता का मर्म उतना ही खुलता जायगा। कविता उनके श्रीमुख से सुनकर बार-बार सुनने की इच्छा बलवती होती जाती है।

'शिप्रा' उनकी मार्मिक कविताओं का सुन्दर संग्रह है। इसमें 'बाँसुरी,' 'चाँदनी,' 'सुमित्रा की शेष स्मृति,' 'जग और युग' तथा

'शिप्रा' आदि कविताएँ 'मास्टर पीस' हैं।

—परमानन्द शर्मा

---

(५)

रूपवाणी (कलकत्ता) सितम्बर '४७

कवि-कर्म, सौन्दर्य-उपासना एवं भावों की यथार्थ पकड़ या रसानुभूति का ज्ञान—यह श्री जानकीवल्लभ शास्त्री के धर्म-दर्शन के तीनों काण्ड अपनी सीमा में स्वस्थ एवं सबल सुपुष्ट क्रम-विकास की ओर विद्युत गति से बढ़े हैं।

यह 'शिप्रा' का कवि सांस्कृतिक वैभव का कवि है; उसे निरखने-परखने के लिए युगों, वादों एवं काल की सीमाओं से परे होना पड़ेगा; तभी उसकी कल्याणी वाणी का जौहर खुल सकेगा।

अन्तिम कविता—'शिप्रा' में प्रसाद और माधुर्य्य का एक साथ अभिव्यञ्जना बड़ी खूबी से हुई है। छन्द की गति के साथ शब्द इस पूकार नृत्य कर रहे हैं, जैसे बरसात में जल की गति के साथ बादल की बूँदें। यह मधु-स्मृति जाग्रत कर स्फूर्ति भरती हुई सहृदय पाठकों को भी छन्द-गति में नचा देने की क्षमता रखती है।

एक अनुभूति से दूसरी अनुभूति पर जाने तक बीच के स्थान को मनोवैज्ञानिक स्पर्श से भर कर पाठक को गहराई के विस्मय में विमुग्ध करने की कसौटी पर पूरी तरह खरी उतरने वाली सहृदय -संवेद्य कविता—'सुमित्रा की शेष स्मृति' है। इसमें हृदय के कितने ही बन्द स्पर्श के पहले ही खुलते चलते हैं। अवश्य 'शिप्रा' —जैसी यह अलंकृत नहीं; क्योंकि यहाँ बनावट की जरूरत ही नहीं थी। यहाँ शब्दों की सादगी में भावनाओं की, मर्माहत कर देनेवाली ध्वनि हृदय के कई स्तरों को स्पन्दित कर देती है।

—परमानन्द शर्मा

(६)

नया समाज (कलकत्ता) दिसम्बर '४८

गीली ममता : गीत का चमत्कार

गीत-परम्परा के कवियों में शास्त्री जी का एक विशिष्ट स्थान है। उनकी 'गीली ममता' सर्वथा उनकी अपनी है।

अपने अमूर्त्त सपनों को, जैसे तन्द्रा की ओर जाने से रोककर, उन्होंने, बौद्धिक वातावरण में, अनुभूति की सहायता से, मूर्त्त रूप दिया है।

उनकी बाँसुरी, चाँदनी, सुमित्रा, झङ्कार, अश्वत्थ, कुन्द और उपगुप्त, निराला, पार्वती, बिखरे मोती, कपोत-कपोती तथा जग और युग एक नई अभिव्यक्ति एवं व्यञ्जना की झलक लिए हैं। 'शिप्रा' यथार्थ में संग्रह की बड़ी सबल और श्रेष्ठ रचना है।

कवि के भावों का गाम्भीर्य्य उनकी प्रवाहमयी भाषा के साथ एक अद्भुत चमत्कारी प्रभाव पैदा करता है।

—*कृष्णाकुमारी सरीन*

(७)

ज्योत्स्ना, एप्रिल '४८

जानकीवल्लभ जी का एक अपना स्थान है, प्रस्तुत रचना उनकी काव्य-साधना का सफल रूप है। शास्त्री जी की अभिनव कल्पना, सूक्ष्म दर्शन और सरल अनुभूति इसमें संगृहीत हैं।

.....कहीं कल्पना की प्रखरता के साथ भाषा का सांस्कृतिक

निखार हो जाता है और कहीं जीवन के सरल सत्य के साथ भाषा भी सम स्तर पर चली आती है।

कवि जीवन और समाज में ऐक्य और साम्य देखने की इच्छा करता है।

मीटरों में भी भावों के साथ सुघर ढङ्ग से कवि ने परिवर्त्तन किया है। 'रियलिज्म' का अंश भी इन कविताओं में यत्र-तत्र आ गया है और बहुत ही सजीव तथा आधुनिक उपमाओं का प्रयोग हुआ है।

शास्त्री जी सचमुच ही एक सफल गीतकार हैं। कोमल से कोमल भावनाओं को स्वर के एक सूक्ष्म धागे में बाँधना, सङ्गीत में लय भरना और शब्दों को काट-छाँट कर टेक मारना, यह सब वे सफलता पूर्वक करते हैं। गीत जितने लघु हों, यह सत्य है कि उनके भाव लघिमा की परिधि लाँघ कर महिमा छू लेते हैं। भाव जब घनीभूत होते हैं तो उनका प्रसार संगीत के उर में सिहरन पैदा करता है और पूर्ति पुलकन पर स्वर के पावस बरस पड़ते हैं।

—स० प्र० किरण